अंतर्वीणा
(150 letters)

अनुक्रम

1/ आनंद है भीतर...7 2/ धैर्य साधना का प्राण है..7 3/ मनुष्य धर्म के बिना नहीं जी सकता..8 4/ जो छीना नहीं जा सकता है, वही केवल आत्म-धन है.....................................9 5/ देखना भर आ जाए--वह तो मौजूद ही है..10 6/ आंख बंद है--चित्त-वृत्तियों के धुएं से...11 7/ मैं आपको तट पर खड़ा पा रहा हूं...12 8/ बस निर्विचार चेतना को साधें..12 9/ विचार को छोड़ें और स्वयं में उतरें...13 10/ हृदय की प्यास और पीड़ा से साधना का जन्म...14 11/ सत्ता की, होने की, प्राणों की पूर्णानुभूति ही सत्य है...............14 12/ शांत मन में अंतर्दृष्ट का जागरण..15 13/ तीव्र अभीप्सा--सत्य के लिए, शांति के लिए, मुक्ति के लिए............16 14/ निर्विचार चैतन्य है--जीवनानुभूति का द्वार...................................16 15/ जिज्ञासा जीवन की..19 16/ सब कुछ--स्वयं को भी देने वाला प्रेम प्रार्थना बन जाता है.........20 17/ स्वतंत्रता का जीवन--प्रेम के आकाश में..21 18/ संगीतपूर्ण व्यक्तित्व...22 19/ सीखो--प्रत्येक जगह को अपना घर बनाना..22 20/ सदा शुभ को--सुंदर को खोज...23 21/ जाग्रत चित्त है द्वार--स्व-सत्ता का..24 22/ धर्म को भी प्रत्येक युग में पुनर्जन्म लेना होता है...................26 23/ धर्म जीवन का प्राण है..26 24/ व्यक्तत्व की गूंज प्राणों तक..27 25/ सोएं नहीं, जागें...28 26/ जीवन मन का खेल है..28 27/ अति विकृति है, समता मुक्त है..29 28/ आस्तकता है--जीवन-कला..30 29/ क्षण ही शाश्वत है...31 30/ जीवन के तथ्यों का आलिंगन..31 31/ कांटों में ही फूल छिपे हैं...32 32/ स्वयं में होना ही स्वस्थ होना है...33

1

33/ प्रार्थना और प्रतीक्षा..34 34/ संकल्प की जागृति..34 35/ जीना ही एकमात्र जानना है..35 36/ जीवन-रस का सूत्र...35 37/ प्रभु-लीला अदभुत है...36 38/ चिंताओं की जड़ें अहंकार में..37 39/ सत्य प्रेम की कसौटी...37 40/ जीवन के तथ्यों की आग का साक्षात्कार कर..38 41/ मैं नहीं--अब तो वही है..40 42/ अंतः अनुभवों के साक्षी बनें..40 43/ विचार, निर्विचार और सत्य..41 44/ संकल्प के बिना जीवन स्वप्न है...42 45/ अज्ञान का बोध...42 46/ तीसरी आंख..43 47/ खोजो--स्वयं को...44 48/ मन से तादात्म्य तोड़...44 49/ प्रेम के मार्ग पर कांटे भी फूल बन जाते हैं....................................45 50/ संन्यास सब से बड़ा विद्रोह है...46 51 जीवन है चुनौती--अनंत आयामी..47 52/ मन का रेचन--ध्यान में...47 53/ स्वयं को प्रभु-पूजा का नैवेद्य बना...48 54/ ध्यान आया कि मन गया..49 55/ जो है--है, फिर द्वंद्व कहां!...49 56/ कारण स्वयं में खोज...50 57/ खिलना--संन्यास के फूल का...51 58/ तेरी मर्जी पूरी हो (इम कवदम)..51 59/ स्वयं का समग्र स्वीकार...52 60/ सत्य को खोजे बिना, जीवन असार है..53 61/ ध्यान की अनुपस्थति है मन..54 62/ विराट अदृश्य का स्पर्श...54 63/ बस, स्मरण कर स्वयं का...55 64/ ध्यान में घटी मृत्यु के पार ही समाधि है...56 65/ स्वप्न में डूबना ही दुख है...57 66/ शुभ है बोध--अभाव, खालीपन और अधूरेपन का..57 67/ ध्यान में पूरा डूबना ही फल का जन्म है...58 68/ बीज के अंकुरित होने में समय लगता है..59

69/ जीवन का सत्य अनेकांत है..59 70/ बहुत देखे सपने--अब तो जाग...60 71/ स्वयं में ठहरते ही विश्राम है, शांति है...61 72/ धर्म और संप्रदाय के अंतर्विरोध का रहस्य.......................................62 73/ प्रेम असुरक्षा में छलांग है..63 74/ प्रेम और ध्यान--एक ही सत्य के दो छोर..64 75/ सफलता और असफलता--एक ही सिक्के के दो पहलू.......................................64 76/ अनेकता में एकता..65 77/ स्वयं को सम्हालने की पागल-चिंता..66 78/ स्वयं को खो देना ही सब-कुछ पा लेना है..66 79/ संसार को लीला मात्र जानना संन्यास है...66 80/ शरीर में रस कहां--रस तो है आत्मा में..67 81/ जो समय पर हो, वही शुभ है...68 82/ जीएं--आज, और अभी, और यहीं...68 83/ प्रभु के लिए पागल होना एक कला है..69 84/ जीवन-रहस्य जीकर ही जाना जा सकता है..70 85/ प्रभु-प्रेम की धुन हृदय-हृदय में गुंजा देनी है...........................70 86/ आता रहूंगा--तुम्हारी नींद जो तोड़नी है..71 87/ विचार नहीं--ध्यान है द्वार..72 88/ जन्मों जन्मों की खोज...72 89/ प्रेम के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है..73 90/ चेतना चाहिए--खुली, उन्मुक्त, प्रतिपल नवीन....................................73 91/ फूटा बबूला (ईनइइसम) अहंकार का...74 92/ पूर्ति--आत्मक पुकार की..75 93/ सत्य है समझ के पार..75 94/ प्रभु-समर्पित कर्म अकर्म है..76 95/ अहंकार निर्बलता है, आत्मा बल है...76 96/ जीने के लिए आज पर्याप्त..77 97/ तैयार होकर आ...78 98/ मार्ग के पत्थरों को सीढ़ियां बना..78 99/ व्यक्त-चित्त के आमूल रूपांतरण से ही समाज में शांति...................79 100/ एक मात्र उत्तर--हंसना और चुप रह जाना...79 101/ उठो अब--और चलो..80 102/ समय चूका कि सब चूका..81 103/ होश (ःूंतमदमे) ही ध्यान है...82 104/ स्वयं में खाली जगह बनाओ..83

105/ पुरानों को दफनाओ और नयों को जन्माते रहो......................................83 106/ प्यास को जगा..84 107/ प्रश्न अंधकार का नहीं--स्वयं के सोए होने का है..........................84 108/ विस्मरण का विष..85 109/ स्वयं का रूपांतरण--समाज को बदलने का एकमात्र उपाय.....................85 110/ धर्म तो प्रयोग है, अनुभव है--आस्था नहीं, विश्वास नहीं.............86 111/ ध्यान में मिलन--मुझसे, सबसे, स्वयं से...86 112/ प्रेम में, प्रार्थना में, प्रभु में डूबना ही मुक्ति है...........87 113/ प्राणों का पंछी--अज्ञात की यात्रा पर..87 114/ क्षण में ही जीएं...88 115/ मृत्यु का ज्ञान ही अमृत का द्वार है..89 116/ भय को पकड़ कर मत रख...89 117/ साधना-संयोग अति दुर्लभ घटना है--चूकना मत....................................90 118/ अनुभव के फूलों से ज्ञान का इत्र निचोड़..90 119/ स्वयं की फिक्र..90 120/ परमात्मा की आग में जल जाना ही निर्वाण है.....................................91 121/ बुद्धि का भिक्षा-पात्र--और जीवन का सागर......................................92 122/ खोजें--ध्यान, मौन, समाधि...92 123/ जहां प्यास है वहां मार्ग है..93 124/ व्यक्ति धार्मिक होते हैं, ग्रंथ नहीं...93 125/ परम असहायावस्था (भमसचसमेदमे) का स्वीकार....................................94 126/ गहरी नींद के लिए चोट भी गहरी चाहिए..94 127/ सब मार्ग ध्यान के ही विविध रूप हैं..95 128/ परमात्मा निकटतम है--इसलिए ही विस्मृत है.....................................96 129/ मैं तो पुकारता ही रहूंगा--तेरी घाटियों में उतर कर....................96 130/ बस बहें--आनंद से, शांति से, विश्राम से..97 131/ ना-समझ बन कर भी देख लो..98 132/ स्वयं में खोदो--निकट है स्रोत उसका..98 133/ संबंध है--जन्मों-जन्मों का..99 134/ पागल सरिता का सागर से मिलन...100 135/ वेदनाओं को बह कर पिघलने दे--झर-झर आंसुओं में............................100 136/ दुर्लभ पंछी--उस पार (ईमलवदक) का..101 137/ कुछ करो, कुछ चलो--स्वयं की खोज में..102 138/ सत्योपलब्ध के मार्ग अनंत हैं...102 139/ अकेलेपन को जी, आलिंगन कर...103 140/ ध्यान के प्रकाश में वासना का सर्प पाया ही नहीं जाता..............104

141/ संन्यास की कीमिया..105 142/ आत्म-श्रद्धायुक्त शक्त से सृजन संभव..106 143/ सदा ही एक बार और प्रयास करो...107 144/ समय और दूरी के पार--आयाम-शून्य-आयाम में प्रवेश........................107 145/ भय के कुहासों में साहस का सूर्योदय...108 146/ अदृश्य के दृश्य और अज्ञात के ज्ञात होने का उपाय--ध्यान........109 147/ आत्मज्ञान के दीये, समाधि के फूल--मौन में, शून्य में................109 148/ सहज मुक्त..110 149/ अंतर्संगीत...112 150/ प्राणों की अंतर्वीणा..112

1/ आनंद है भीतर

प्रिय बहन, चिदात्मन्
प्रणाम।

मैं परसों दिल्ली से लौटा, तो आपका पत्र मिला है।
यह जान कर प्रसन्न हूं कि आपको आनंद और संतोष का अनुभव हो रहा है।
आनंद भीतर है।
उसकी खोज बाहर करते हैं, इससे वह नहीं मिलता है।
एक बार भीतर की यात्रा प्रारंभ हो जावे, तो फिर निरंतर आनंद के नये- नये स्रोत खुलते चले जाते हैं।
वह राज्य जो भीतर है--वहां न दुख है, न पीड़ा है, न मृत्यु है।
उस अमृत में पहुंच कर एक नया जन्म हो जाता है।
और, वहां जो दर्शन होता है, उससे सब ग्रंथियां कट जाती हैं।
इस मुक्त स्थिति को उपलब्ध कर लेना ही जीवन का लक्ष्य है।
यह स्थिति "स्व" और "पर" को गिरा देती है।
केवल सत्ता रह जाती हैः सीमा और विशेषण-शून्य--निराकार और अरूप।
इसके पूर्व जो था, वह अहं-सत्ता थी; अब जो होता है, वह ब्रह्म-सत्ता है।
यह पाया कि सब पाया।
यह जाना कि सब जाना।
इसमें होते ही--हिंसा और घृणा, दुख और पीड़ा, मृत्यु और अंधेरा--सब गिर जाता है।
जो शेष बचता है, वह सत्-चित्-आनंद है।
इस सत्-चित्-आनंद को पा सको, यही कामना है

रजनीश के प्रणाम
8 मार्च, 1963 (प्रभात)

(प्रतिः सुश्री जया शाह, बंबई)

2/ धैर्य साधना का प्राण है
प्रिय बहिन,
सत्य प्रत्येक क्षण, प्रत्येक घटना से प्रकट होता है। उसकी अभिव्यक्ति नित्य हो रही है।
केवल, देखने को आंख चाहिए, प्रकाश सदैव उपस्थित है।
एक पौधा वर्ष भर पहले रोपा था। अब उसमें फूल आने शुरू हुए हैं। एक वर्ष की प्रतीक्षा है, तब कहीं फल है।
ऐसा ही आत्मिक जीवन के संबंध में भी है।
प्रार्थना करो और प्रतीक्षा करो--बीज बोओ और फूलों के आने की राह देखो।
धैर्य साधना का प्राण है।
कुछ भी समय के पूर्व नहीं हो सकता है। प्रत्येक विकास समय लेता है।
और, वे धन्य हैं, जो धैर्य से बाट जोह सकते हैं।

आपका पत्र मिला है। आशा-निराशा के बीच मार्ग बनाते चल रही हैंः यह जान
कर मन को बहुत खुशी होती है।
जीवन-पथ बहुत टेढ़ा-मेढ़ा है।
और, यह अच्छा ही है।
इससे पुरुषार्थ को चुनौती है और जीत का आनंद है।
केवल वे ही हारते हैं, जो चलते ही नहीं हैं।
जो चल पड़ा है, वह तो आधा जीत ही गया है।

6

जो हारें बीच में आती हैं, वे हारें नहीं हैं। वे तो पृष्ठभूमि हैं, जिसमें विजय पूरी तरह खिल कर उभरती है।
ईश्वर प्रतिक्षण साथ है, इसलिए गंतव्य को पाना निश्चित है।
मैं आनंद में हूं। क्रांति प्रणाम भेज रही है।

रजनीश के प्रणाम
28 मार्च, 1963
(प्रतिः सुश्री जया शाह, बंबई)

3/ मनुष्य धर्म के बिना नहीं जी सकता

प्रिय जया बहिन,
प्रणाम।
मैं आनंद में हूं। आपका पत्र मिले देर हुई। मैं बीच में बाहर था, इसलिए उत्तर में विलंब हुआ है। इंदौर और शाजापुर बोल कर लौटा हूं।
एक सत्य के दर्शन रोज-रोज हो रहे हैं कि मनुष्य धर्म के बिना नहीं जी सकता है।
धर्म के अभाव में उसमें कुछ खाली और रिक्त छूट जाता है।
यह रिक्तता पीड़ा देने लगती है, और फिर इसे भरने का मार्ग नहीं दीखता है।
ऐसी स्थिति आधुनिक मनुष्य की है।
इससे मैं निराश नहीं हूं, क्योंकि इसमें ही शायद मनुष्य की रक्षा और भविष्य की एकमात्र आशा है।
इस पीड़ा से ही उस प्यास का जन्म हो रहा है--जो यदि सम्यक दिशा दी जा सकी--तो विश्व में धर्म के पुनरुत्थान में परिणत हो सकती है।
अंधेरी रात के बाद जैसे प्रभात का जन्म होता है, ऐसे ही मनुष्य की अंतरात्मा भी एक नये प्रभात के करीब है।
इस होने वाले प्रभात की खबर प्रत्येक को दे देनी है, क्योंकि यह प्रभात प्रत्येक के भीतर होना है।
और, इस प्रभात को लाने के लिए प्रत्येक को प्रयत्नशील भी होना है।
हम सब इसे लाएंगे, तो ही यह आ सकता है।
यह अपने से नहीं आ सकता है।
चेतना का जन्म, प्रयास और प्रतीक्षा मांगता है।
और, प्रसव की पीड़ा भी।
यह प्रयास, प्रसव-पीड़ा और प्रतीक्षा दुखद नहीं होती है, क्योंकि उसके माध्यम से ही क्षुद्र विराट को पाता है।
विराट को अपने में जन्म देने से बड़ा आनंद और कुछ नहीं है।
यह जान कर प्रसन्न हूं कि आप जीवन-साध्य की ओर गतिवान हैं।
चलते भर हम चलें, पहुंचना तो निश्चित है।
ईश्वर साथ दे, यही कामना है।

रजनीश के प्रणाम
15 अप्रैल, 1963
(प्रतिः सुश्री जया शाह, बंबई)

4/ जो छीना नहीं जा सकता है, वही केवल आत्म-धन है

प्रिय जया बहिन,
स्नेह।

आपका पत्र मिला है। बहुत खुशी हुई। शांति और आनंद की नई गहराइयां छू रही हैं, यह जान कर कितनी प्रसन्नता होती है!
जीवन के यात्रा-पथ पर उन गहराइयों के अतिरिक्त और कुछ भी पाने योग्य नहीं है।
जब सब खो जाता है, तब भी वह संपदा साथ रहती है।
इसलिए वस्तुतः वही संपदा है।
और, जिनके पास सब-कुछ है, लेकिन वह नहीं है, वे समृद्धि में भी दरिद्र हैं।
समृद्धि में दरिद्र और दरिद्रता में समृद्ध होना, इसलिए ही, संभव हो जाता है।
जीवन की सतह पर समृद्धि मिल जाती है, लेकिन दरिद्रता नहीं मिटती है।
वह समृद्धि दरिद्रता के मिटने का धोखा देती है, लेकिन दरिद्रता मिटती नहीं, केवल छिप जाती है।
और, यह आत्मवंचना अंत में बहुत महंगी पड़ती है।
क्योंकि, वह जीवन जो कि वास्तविक संपदा के पाने का अवसर बन सकता था, उसके धोखे में व्यर्थ ही व्यय हो जाता है।
जीवन की सतह पर जो समृद्धि है, उससे सचेत होना बहुत आवश्यक होता है।
क्योंकि, जो उसके भ्रम से जागते हैं, वे ही जीवन के केंद्र पर जो धन छिपा है, उसकी खोज में लगते हैं।
उस धन की उपलब्धि दरिद्र्रता को नष्ट ही कर देती है। क्योंकि, उस धन
को फिर छीना नहीं जा सकता है।
और, जो नहीं छीना जा सकता है, वही केवल अपना है, वही आत्मधन है। और, जो नहीं छीना जा सकता है, वह दिया भी नहीं जा सकता है; क्योंकि जो दिया जा सकता है, वह छीना भी जा सकता है। और, जो नहीं छीना जा सकता है, उसे पाया भी नहीं जा सकता है; क्योंकि जो पाया जा सकता है, वह खोया भी जा सकता है।
वह तो है, वह तो नित्य उपस्थित है, केवल उसे जानना मात्र होता है। वस्तुतः, उसे जान लेना ही उसे पा लेना है।
जीवन का प्रत्येक चरण उसी ज्ञान संपदा की ओर ले चले, यही मेरी कामना है।
मैं आनंद में हूं। वहां सब प्रियजनों को मेरा प्रेम कहें। सुशीला जी
को स्नेह।

रजनीश के प्रणाम
20 मई, 1964
(प्रतिः सुश्री जया शाह, बंबई)

5/ देखना भर आ जाए--वह तो मौजूद ही है

प्रिय चिदात्मन्,

मैं आपके अत्यंत प्रीतिपूर्ण पत्र को पाकर आनंदित हुआ हूं। आपके जीवन
की लौ निर्धूम होकर सत्य की ओर बढ़े यही मेरी कामना है।
प्रभु को पाने के लिए जीवन को एक प्रज्वलित अग्नि बनाना होता है।
सतत उस ओर ध्यान रहे।
सोते-जागते, श्वास-श्वास में वही आकांक्षा और प्यास, वही स्मरण, उसकी
ही ओर दृष्टि बनी रहे, तो कुछ और नहीं करना होता है।
प्यास ही, केवल प्यास ही उसे पा लेने के लिए पर्याप्त है।
सागर तो कितना निकट है, पर हम प्यासे ही नहीं हैं।
उसके द्वार तो कितने हाथ के पास हैं, पर हम खटखटाएं तो!
देखना भर आ जाए--वह तो मौजूद ही है।
आंखें अन्य से भरी हैं। चित्त व्यर्थ से घिरा है। इससे जो है, वह दीख नहीं पाता है।

हृदय "पर" से आच्छादित है, इसलिए "स्व" का विस्मरण हो गया है।
इस आच्छादन को हटाना हैः स्वच्छ, निर्मल झील के वक्ष पर जम गई काई को, कचरे को थोड़ा हटाना है।
और तब, दीखता है कि कुछ कभी खोया तो था ही नहीं, खोया ही नहीं जा सकता है।
मैं निरंतर सत्य में, सत्ता में विराजमान हूं। मैं वही हूं।
तुम भी वही होः तत्त्वमसि श्वेतकेतु।
जागे और स्मरण से भरें।
समस्त क्रियाओं में उसका स्मरण रखें, जो कि उन्हें देख रहा है।
सर्व विचारों में उस पर दृष्टि रहे, जो उनके पीछे है।
वहां जागना है--जहां न कोई क्रिया है, न कोई विचार है, न कोई स्पंदन है।
वहीं है वह, जो क्षेत्र और काल के अतीत है।
और, वहीं है शांति, आनंद और निर्वाण।
और, वहीं है वह, जिसे पाकर फिर और कुछ पाने को नहीं रह जाता है।
मेरे सब प्रियजनों से मेरा प्रेम कहना।

रजनीश के प्रणाम
17 जनवरी, 1964
यात्रा सेः औरंगाबाद
(प्रतिः श्री जीवन सिंह सुराणा, इंदौर, म. प्र.)

6/ आंख बंद है--चित्त-वृत्तियों के धुएं से

चिदात्मन्,
प्रेम।

आपका अत्यंत प्रीति और सत्य के लिए प्यास से भरा पत्र मिला है। मैं आनंदित हुआ।
जहां इतनी प्यास होती है, वहां प्राप्ति भी दूर नहीं है।
प्यास हो, तो पथ बन जाता है।
सत्य तो निकट है और प्रकाश की भांति द्वार पर ही खड़ा है।
वह नहीं, समस्या हमारे पास आंख न होने की है।
और, उस आंख का भी अभाव नहीं है। वह भी है, पर बंद है।
इस आंख को खोला जा सकता है।
संकल्प और सतत साधना का श्रम उसे खोल सकता है।
विचार से, मन से, चित्तवृत्तियों के धुएं से आंख बंद है।
निर्विचार चैतन्य में वह खुलती है और सारा जीवन आलोक से भर जाता है।
यही मैं सिखाता हूं। निर्विचार की निर्दोष स्थिति सिखाता हूं।
मेरी और कोई शिक्षा नहीं है।
आंख खुली हो, तो शेष सब वह खुली आंख सिखा देती है।
आंख को खोलने के इस प्रयोग के लिए अभी 13, 14 और 15 फरवरी को महाबलेश्वर (पूना) में 200 मित्र मिल रहे हैं। आप आ सकें तो अच्छा है। 12 फरवरी को संध्या तक महाबलेश्वर पहुंच जाना है।
वहां सबको मेरे प्रणाम कहें।

रजनीश के प्रणाम
17 जनवरी, 1965
(प्रतिः श्री रजनीकांत भंसाली, जयपुर, राज.)

7/ मैं आपको तट पर खड़ा पा रहा हूं

मेरे प्र्रिय,
प्रेम।

आपका पत्र मिला है। उसे पाकर आनंदित हुआ हूं। उस दिन भी आपसे मिल कर अपार हर्ष हुआ था।
सत्य के लिए जैसी आपकी आकांक्षा और प्यास है, वह सौभाग्य से ही होती है।
वह हो, तो एक न एक दिन साधना के सागर में कूदना हो ही जाता है।
मैं आपको तट पर खड़ा पा रहा हूं--बस, एक छलांग की ही आवश्यकता है।

साधना को जितना सहज बनाया जा सके--वह जितनी "प्रयत्न के तनाव से शून्य" हो, उतनी ही शीघ्रता से उसमें गति होती है।
अयास तो होगा ही, लेकिन, वह अयास तनाव और व्यस्तता नहीं बनना चाहिए।
इस भाव को ही मैंने "अनायास के द्वारा अयास" कहा है।
सत्य को पाने में जो अधैर्य और अशांति होती है, उसे ही तनाव--प्रयत्न
का तनाव समझना चाहिए।
अनंत धैर्य और शांति और प्र्र्रतीक्षा हो, तो प्रयत्न का तनाव विलीन
हो जाता है।
फिर, जैसे वृक्षों में फूल सहज ही खिलते हैं, वैसे ही साघना में अनायास और अनिरीक्षित ही क्रमशः गति होती जाती है।

वहां सभी को मेरा प्रेम कहें।

रजनीश के प्रणाम
5 अप्रैल, 1965
(प्रतिः श्री मथुराप्रसाद मिश्र, पटना, बिहार)

8/ बस निर्विचार चेतना को साधें

प्रिय सुशीला जी,
प्रेम।

आपका पहला पत्र यथासमय मिल गया था। लेकिन, मैं सौराष्ट्र के दौरे पर चला गया, इसलिए उत्तर नहीं दे सका। आते ही आपका दूसरा पत्र मिला है। आपकी इच्छा है, तो मैं उधर आ सकूंगा। अक्तूबर के शिविर में आप इधर आ ही रही हैं, तभी उस संबंध में विचार कर लेंगे।
किसी को मुझसे किसी प्रकार की सहायता मिल सके, तो मैं कहीं भी आने को तैयार हूं।
अब तो यही मेरा आनंद है।
आपने अपने चित्त की जो दशा लिखी है, उससे बहुत प्रसन्नता होती है।
प्रगति ठीक दिशा में है।
मुद्राओं के कारण चिंतित न हों। उनसे लाभ ही होगा और फिर वे क्रमशः विलीन हो जावेंगी।
आप तो बस, निर्विचार चेतना को साधें, शेष सब अपने आप छाया की भांति अनुगमन करता है।
चित्त शांत हो, तो जो भी होता है, सब शुभ है।
सामान्यतः जीवन और कार्यों के प्रति जो निराशा मालूम होती है, वह भी संक्रमणकालीन है। वह भी चली जावेगी।
और, तब जो सेवा फलित होती है, वही वास्तविक सेवा है।
इन सब बातों पर जब आप मिलती हैं, तभी विस्तार से विचार कर सकेंगे।

इतना स्मरण रखें कि जो भी हो रहा है, वह ठीक है और उसके परिणाम में मंगल ही होगा।
मेरे प्रेम को स्वीकार करें। प्रभु प्रकाश दे, यही कामना है।

रजनीश के प्रणाम
10 अगस्त, 1965

(प्रतिः सुश्री सुशीला सिन्हा, पटना)

9/ विचार को छोड़ें और स्वयं में उतरें

मेरे प्रिय आत्मन्,
प्रेम।
आपका पत्र मिला है।
ध्यान की साधना में यदि क्रमशः अमूर्च्छा, आत्मज्ञान और सजगता विकसित होती जावे, तो मानना चाहिए कि हम चित्त के सम्मोहन-घेरे से बाहर हो रहे हैं।
और, यदि इसके विपरीत मूर्च्छा और प्रमाद बढ़ता हो, तो निश्चित मानना चाहिए कि चित्त की निद्रा और गहरी हो रही है।
लेकिन, स्वयं प्रयोग किए बिना कुछ भी अनुभव नहीं हो सकता है।
विचार ही न करते रहें। विचार को छोड़ें और स्वयं में उतरें।
विचार तो किनारा ही है--जीवन-शक्ति की धारा तो निर्विकार ध्यान में ही है।
कबीर ने कहा हैः
"जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी खोजन गई, रही किनारे बैठ।।"

रजनीश के प्रणाम
6-10-1965
(प्रतिः श्री मथुराप्रसाद मिश्र, पटना)

10/ हृदय की प्यास और पीड़ा से साधना का जन्म

मेरे प्रिय,
प्रेम।

आपका पत्र मिले बहुत देर हो गई है। मैं इस बीच निरंतर प्रवास में था, इसलिए दो शब्द भी प्रत्युत्तर में नहीं लिख सका। वैसे मेरी प्रार्थनाएं तो सदा ही आपके साथ हैं।
मैं आपके हृदय की प्यास और पीड़ा को जान कर आनंदित होता हूं। क्योंकि, वही तो बीज है, जिससे कि साधना का जन्म होता है।
जीवन पर शांत और सहज भाव से प्रयोग करते चलें। फल तो अवश्य ही आता है।
स्मरण रखें कि कोई भी भूमि ऐसी नहीं है कि जिसके भीतर जलस्रोत न हो।
और, कोई भी आत्मा ऐसी नहीं है, जिसके भीतर कि परमात्मा न हो।
वहां सबको मेरे प्रणाम कहें।

रजनीश के प्रणाम
18-12-1965
(प्रतिः श्री रजनीकांत भंसाली, जयपुर)

11/ सत्ता की, होने की, प्राणों की पूर्णानुभूति ही सत्य है

प्रिय सुशीला,

तुम्हारा पत्र। मैं बाहर था। परसों ही लौटा हूं। विश्वविद्यालय से मुक्ति ले ली है, इसलिए अब तो यात्रा ही जीवन है।
सत्य क्या है? सत्ता की, होने की, प्राणों की पूर्णानुभूति ही सत्य है।
"होने" की अनुभूति जितनी मूर्च्छित है, जीवन उतना ही असत्य है।
"मैं" हूं--इसे खूब गहरी प्रगाढ़ता से प्रतिक्षण अनुभव करो।
श्वास उससे भर जावे।
अंततः "मैं" न बचे और "हूं" ही शेष रहे।
उस क्षण ही "जो है", उसे जाना और जिया जाता है।
क्या मौन में संवाद संभव है?
वस्तुतः तो मौन में ही संवाद संभव है। शब्द कहते कम, रोकते ज्यादा हैं।
बहुत गहरे में सब संयुक्त है।
मौन में उसी संयुक्तता के तल पर भावों का संक्रमण हो जाता है।
शब्द शून्याभिव्यक्ति के बहुत असमर्थ पूरक हैं।
सत्य तो शब्दों में कहा ही नहीं जा सकता।
उसे तो मौन अंतर्नाद से ही प्रकट किया जा सकता है।
और तुमने जो सलाहें देनी शुरू की हैं, उनसे बहुत आनंदित हूं।
सदा ऐसी ही सलाहें देती रहना।
संसार के संबंध में मैं कुछ भी तो नहीं जानता हूं!
इन सलाहों में छिपी मेरे लिए तुम्हारी चिंता और प्रेम में मैं बहुत अभिभूत हो जाता हूं।

रजनीश के प्रणाम
5-8-1966

(प्रतिः सुश्री सुशीला सिन्हा, पटना)

12/ शांत मन में अंतर्दृष्ट का जागरण

प्रिय सुशीला जी,
प्रेम।

आपका पत्र मिला है।
आपकी साधना और तत्संबंध में चिंतन से प्र्र्रसन्न हूं।
देश की वर्तमान स्थिति से चिंता होना स्वाभाविक है।
लेकिन, चिंता जितनी ज्यादा हो चिंतन उतना ही असंभव हो जाता है।
चिंता और चिंतन विरोधी दिशाएं हैं।
मन को शांत रखें तो जो करने योग्य हो, उसके प्रति अंतर्दृष्टि क्रमशः जाग्रत होने लगती है।
शांत मन सहज ही कर्त्तव्य को करने में संलग्न हो जाता है।
फिर, अंतःकरण स्वयं ही पथ और पथ पर प्रकाश दोनों ही बन जाता है।
मैं "क्या करें" इस संबंध में कोई सलाह नहीं देता हूं।
मेरी सलाह तो परिपूर्णतः शांत होने के लिए है।
उसके बाद स्वयं से ही आदेश मिलने प्रारंभ हो जाते हैं।

ये आदेश सदा अचूक होते हैं और उनमें कोई दूसरा विकल्प, शंका या संदेह
की संभावना भी नहीं होती।
विचार से नहीं, वरन अंतर्दृष्टि से जीने के लिए ही मेरी सलाह है।
ध्यान में अधिक देर बैठना स्वास्थ्य के कारण संभव न हो, तो लेट कर ही ध्यान करें।
प्रश्न बैठने या लेटने का बिल्कुल भी नहीं है।
असली प्रश्न तो चित्त-स्थिति का है।
शरीर से नहीं, साधना का कार्य मूलतः तो मन से ही संबंधित है।
शिविर तो अभी नहीं हो रहा है। अब देखना है कि कब आपका निकट से सहयोगी
बन सकूं?
मेरे प्रेम को सदा अपने साथ अनुभव करें। वहां सबको मेरे प्रणाम कहें।

रजनीश के प्रणाम
18-9-1966
(प्रतिः सुश्री सुशीला सिन्हा, पटना)

13/ तीव्र अभीप्सा--सत्य के लिए, शांति के लिए, मुक्ति के लिए

प्यारी शिरीष,
प्रेम।

तेरा पत्र पाकर अत्यंत आनंदित हुआ हूं।
सत्य के लिए, शांति के लिए, मुक्ति के लिए तेरी कितनी अभीप्सा है!
उस अभीप्सा को अनुभव करता हूं, तो लगता है कि मैं तेरे लिए जो कुछ भी
कर सकूं, वह थोड़ा ही होगा।
फिर भी मैं सामर्थ्य भर तेरी सहायता करना चाहता हूं।
क्यों करना चाहता हूं?
शायद न करना मेरे वश में ही नहीं है।
परमात्मा का जो आदेश है, उसे ही करना होगा।
और, जब तुझे तैयार देखता हूं, तो आनंदित होता हूं।
वह घड़ी निरंतर ही निकट आ रही है, जब मैं उस दिशा में इंगित कर सकूं, जो
कि तेरी नियति (क्मेजपदल) है।
श्री पै को मेरे प्रणाम।
हां, तू अपने संबंध में जो भी लिखना चाहती है, अवश्य लिख।

रजनीश के प्रणाम
1-12-1966
(प्रतिः सुश्री शिरीष पै, बंबई)

14/ निर्विचार चैतन्य है--जीवनानुभूति का द्वार

मेरे प्रिय,
प्रेम।
तुम्हारा पत्र और तुम्हारे प्रश्न मिले हैं।
मैं मृत्यु के संबंध में जान-बूझ कर चुप रहा हूं।
क्योंकि मैं जीवन के संबंध में जिज्ञासा जगाना चाहता हूं।
मृत्यु के संबंध में जो सोच-विचार करते हैं, वे कहीं भी नहीं पहुचंते हैं।
क्योंकि, वस्तुतः मरे बिना मृत्यु कैसे जानी जा सकती है?

इसलिए, वैसे सोच-विचार का कुल परिणाम या तो यह स्वीकृति होती है कि आत्मा अमर है या यह कि जीवन की समाप्ति पूर्ण समाप्ति ही है और पीछे कुछ शेष नहीं रह जाता है।
ये दोनों ही कोरी मान्यताएं हैं।
एक मान्यता मृत्यु के भय पर खड़ी है और दूसरी शरीर की समाप्ति पर।
मैं चाहता हूं कि व्यक्ति मान्यताओं और विश्वासों में न पड़े।
क्योंकि, वह दिशा ही अनुभव की और ज्ञान की दिशा नहीं है।
और मृत्यु के संबंध में मान्यता और सिद्धांतों के अतिरिक्त सोच-विचार से और क्या मिल सकता है?
विचार कभी भी ज्ञात (ज्ञदवूद) के पार नहीं ले जाता है।
और, मृत्यु है अज्ञात।
इसलिए, विचार से उसे नहीं जाना जा सकता है।
मैं तो जीवन की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं।
जीवन है--अभी और यहीं (दवू)।
उसमें उतरा जा सकता है।
मृत्यु तो कभी भी अभी और यहीं नहीं है।
या तो वह भविष्य में है या अतीत में।
मृत्यु कभी भी वर्तमान में नहीं है।
क्या यह तथ्य तुम्हारे ध्यान में कभी आया है कि मृत्यु कभी भी वर्तमान में नहीं है!
लेकिन, जीवन तो सदा वर्तमान में है।
वह न अतीत में है, न भविष्य में।
वह है, तो अभी है; अन्यथा कभी नहीं है।
इसलिए, उसे जाना जा सकता है। क्योंकि उसे जीया जा सकता है। उसके संबंध में विचार करने की आवश्यकता नहीं है।
वस्तुतः तो, जो उसके संबंध में विचार करेंगे, वे उसे चूक जावेंगे।
क्योंकि, विचार की गति भी अतीत और भविष्य में ही होती है। विचार भी वर्तमान में नहीं होता है।
विचार भी मृत्यु का सहधर्मा है। अर्थात वह भी मृत ही है। जीवन का तत्व उसमें भी नहीं है।
जीवंतता सदा वर्तमान है। वह वर्तमान ही है।
उसका रूप हैः अभी--बिल्कुल अभी (छवू)। यहां--बिल्कुल यहां (भमतम)।
इसलिए, जीवन का विचार नहीं होता; होती है अनुभूति।
अनुभव (द्मगचमतपमदबम) भी नहीं--अनुभूति (द्मगचमतपमदबपदह)।
अनुभव अर्थात जो हो चुका। अनुभूति अर्थात जो हो रही है।
अनुभव तो बन चुका विचार। क्योंकि, वह अतीत हो गया है।
अनुभूति है निर्विचार--निःशब्द--मौन--शून्य।
इसलिए, निर्विचार-चैतन्य (ैंवनहीजसमे:ूंतमदमे) को कहता हूं मैं-- जीवानानुभूति का द्वार।
और, जो जीवन को जान लेता है, वह सब जान लेता है।
वह मृत्यु को भी जान लेता है।
क्योंकि, मृत्यु जीवन को न जानने से पैदा हुआ एक भ्रम मात्र है।
जीवन को जो नहीं जानता, वह स्वभावतः शरीर को ही स्वयं मान लेता है। और, शरीर तो मरता है। शरीर तो मिटता है। उसकी इकाई तो विसर्जित होती है।
इससे ही मृत्यु पूर्ण अंत है, यह धारणा पैदा होती है।
जो थोड़े साहसी हैं और निर्भय हैं, वे इसी धारणा को स्वीकार करते हैं।
और शरीर को ही स्वयं मान लेने की इसी भ्रांति से मृत्यु का भय भी पैदा होता है।
और, इसी भय से पीड़ित व्यक्ति "आत्मा अमर है", "आत्मा अमर है" इसका जाप करने लगते हैं।
भयभीत और निर्बल व्यक्ति इस भांति शरण खोजते हैं।
लेकिन, ये दोनों धारणाएं एक ही भ्रम से जन्मती हैं।
वे एक ही भ्रांति के दो रूप और दो प्रकार के व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएं हैं।

लेकिन, स्मरण रहे कि दोनों की भ्रांति एक ही और दोनों प्रकार से वही भ्रांति मजबूत होती है।
मैं इस भ्रांति को किसी भांति का बल नहीं देना चाहता हूं।
यदि मैं कहूंः आत्मा अमर नहीं है, तो यह असत्य है।
और यदि कहूं कि आत्मा अमर है, तो भी यह भय के लिए एक पलायन बनता है। और
जो भयभीत हैं, वे कभी सत्य को नहीं जान पाते हैं।
इसलिए, मैं कहता हूं कि मृत्यु अज्ञात है। जानो जीवन को। वही जाना जा सकता है। और, उसे ही जान लेने पर अमृतत्व भी जान लिया जाता है।
जीवन शाश्वत है। उसका न आदि है, न अंत।
वह अभिव्यक्त होता है, अनभिव्यक्त होता है।
वह एक रूप से दूसरे रूपों में भी गति करता है।
रूपांतरण के ये संधि-स्थल ही अज्ञान में मृत्यु-जैसे प्रतीत होते हैं।
लेकिन, जो जानता है, उसके लिए मृत्यु गृह-परिवर्तन से ज्यादा नहीं है।
निश्चय ही पुनर्जन्म है।
लेकिन, मेरे लिए वह सिद्धांत नहीं है, अनुभूति है।
और, मैं दूसरों के लिए भी उसे सिद्धांत नहीं बनाना चाहता हूं।
सिद्धांतों ने सत्य की बुरी तरह हत्या कर दी है।
मैं तो चाहता हूं कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं जान सके।
यह कार्य कोई दूसरा किसी के लिए नहीं कर सकता है।
लेकिन, सिद्धांतों के द्वारा यही कार्य हो गया प्रतीत होता है।
इससे एक-एक व्यक्ति की निजी खोज कुंठित और जड़ हो गई है।
वह तो बस, सिद्धांत और शास्त्र मान कर चुप बैठ गया है। जैसे कि उसे स्वयं न कुछ जानना है, न करना है।
यह स्थिति तो बहुत आत्मघाती है।
इसलिए, मैं सिद्धांतों की पुनरुक्ति से मनुष्य की इस हत्या के विराट समारोह में सम्मिलित नहीं होना चाहता हूं।
मैं तो सब बंधे-बंधाए सिद्धांतों को अस्त-व्यस्त कर देना चाहता हूं।
क्योंकि, मुझे यही करुणापूर्ण मालूम होता है।
इस भांति जो असत्य है, वह नष्ट हो जाएगा।
और, सत्य तो कभी नष्ट नहीं होता है।
वह तो खोजने वाले को सदा ही अपनी चिर-नूतनता में उपलब्ध हो जाता है।

वहां सबको मेरे प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम
14-9-1968
(प्रतिः डा. रामचंद्र प्रसाद, पटना, बिहार)

15/ जिज्ञासा जीवन की

मेरे प्रिय,
प्रेम।

तुम्हारे दो पत्र देर से आकर प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं, लेकिन बहुत था व्यस्त, इसलिए विलंब के लिए क्षमा मांगता हूं।

(पत्रः 8-10-68)
प्रश्न 1ः
"अवतार", "तीर्थंकर", "पैगंबर", जैसी अभिव्यक्तियां मनुष्य की असमर्थता की सूचक हैं। इतना निश्चित है कि कुछ चेतनाएं ऊर्ध्वगमन की यात्रा में उस जगह पहुंच जाती हैं, जहां उन्हें "मनुष्य" मात्र कहे जाना

सार्थक नहीं रह जाता है। फिर कुछ तो कहना ही होगा। मनुष्यातीत अवस्थाएं हैं।
2ः धर्म की शिक्षा का अर्थ हैः ऐसा अवसर देना कि भीतर जो प्रसुप्त है,
वह जाग सके। निश्चय ही मार्गदर्शकों की जरूरत होगी। लेकिन वे होंगे-- मित्र। गुरु होने की चेष्टा में ही आरोपण प्रारंभ हो जाता है। मनुष्य को गुरुडम से बचाया जाना आवश्यक है।
3ः पहले के लोग भी ऐसे ही थे। कम शिक्षित थे। इसलिए, उनका सब भांति का शोषण होता था। इस शोषण की सुविधा को ही शोषक उनकी सरलता कहते थे। यह सरलता सरलता कम, बुद्धूपन ही ज्यादा थी।
मैं बुद्धूपन का जरा भी समर्थक नहीं हूं। जो सरलता अज्ञान से आती है, उसका मूल्य कौड़ी भर भी नहीं है।
ज्ञान से आई सरलता का ही आध्यात्मिक मूल्य है।
लेकिन, संक्रमण में ज्ञान से चालाकी आती है। यह स्वाभाविक है। लेकिन मनुष्य जाति जब ठीक से शिक्षित हो चुकी होगी, तो यह संक्रमणकालीन संकट नष्ट जाएगा। और फिर ज्ञान्र सरलता की जो स्थिति होगी, वही अपेक्षित है।
4ः गरीब गरीब है, क्योंकि उसका चिंतन भ्रांत है। गरीबी भी हमारे गलत जीवन-दर्शन का परिणाम है।
इसलिए जीवन-दृष्टि की बदलाहट के साथ ही सामाजिक व्यवस्था भी बदलती
है। विचार ही व्यवस्थापक है। अमरीका अकारण समृद्ध नहीं है। और भारत अकारण दरिद्र नहीं है। हमारा दर्शन दरिद्रता का दर्शन (ढीपसवेवचील वि चवअमतजल) है। उनका दर्शन है, संपन्नता का।
इसलिए मैं कहता हूं कि जब तक हमारा दर्शन नहीं बदलता है, तब तक दरिद्रता भी नहीं बदलने वाली है।
(पत्रः 23-9-68)
प्रश्न 1ः
दुख न शरीर को होता है, न आत्मा को। दुख होता है दोनों के संघात को अर्थात व्यक्ति को। व्यक्ति है दोनों का जोड़। शरीर पर पड़ता है आघात। आघात भौतिक है। लेकिन अनुभव होता है आत्मा को। अनुभव आत्मिक है। आघात के बिना अनुभव नहीं हो सकता है। अनुभोक्ता के बिना आघात का ज्ञान नहीं हो सकता है। अंधे और लंगड़े ने जैसे आग-लगे जंगल से भाग कर प्राण बचाए--वैसे ही। अलग-अलग दोनों नहीं बच सकते। मिल कर दोनों बचे। "मिलन" ने बचाया। दोनों के जोड़ ने। ऐसा ही है दुख का अनुभव।
2ः तत्वज्ञान की रुचि प्रत्येक में है। उसके जागरण के लिए निमित्त कोई भी बन सकता है। लेकिन निमित्त गौण है। बस, इतना ही ध्यान रखना है। शिष्य है प्रमुख। गुरु है गौण। गुरुडम इसके विपरीत प्रचार करती है। उससे ही मेरा विरोध है।
3ः पं. सुखलाल से मेरा मिलन हुआ है। वैसे वे मेरे साहित्य से और व्याख्यानों से परिचित हैं। मेरे व्याख्यानों के बहुत से टेप उन्होंने सुने हैं। उनकी पुस्तक "दर्शन और चिंतन" का एक हिंदी भाग मैंने देखा है। 4ः पश्चिम के विचारकों में अस्तित्ववादियों (द्मगपेजमदजपंसपेजे) से मेरे विचार-सूत्रों की कुछ साम्यता हो सकती है। झेन (र्मद) साधकों से भी सूफी संतों से भी। कृष्णमूर्ति और गुरजिएफ से भी।
वहां सबको मेरा प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम
7-11-1968
(प्रतिः डा. रामचंद्र प्रसाद, पटना, बिहार)

16/ सब कुछ--स्वयं को भी देने वाला प्रेम प्रार्थना बन जाता है

प्यारी रोशन,
प्रेम।

तेरा पत्र पाकर आनंदित हूं।
यह भी तुझे ज्ञात है कि उस दिन तू मिलने आई, तो चुप क्यों रह गई थी? लेकिन, मौन भी बहुत कुछ कहता है।
और, शायद शब्द जो नहीं कह पाते हैं, वह मौन कह देता है।

प्रेम और विवाह के संबंध में तूने पूछा है।
प्रेम अपने में पूर्ण है।
वह और कुछ भी नहीं चाहता है।
विवाह "कुछ और" की भी चाह है।
लेकिन, पूर्ण प्रेम कहां है?
इस पृथ्वी पर कुछ भी पूर्ण नहीं है।

इसलिए, प्रेम, विवाह बनना चाहता है।
यह अस्वाभाविक भी नहीं है।
लेकिन, उपद्रवपूर्ण तो है ही।
क्योंकि, प्रेम आकाश की मुक्ति है और विवाह पृथ्वी का बंधन है।

प्रेम से कोई तृप्त हो सके, तो ठीक है।
अन्यथा, विवाह से कौन कब तृप्त हुआ है?

लेकिन जीवन से भागना कभी मत।
पलायन आत्मघात है।
जीवन को जीना--उसकी सफलताओं में भी और असफलताओं में भी।
हार और जीत--सभी जरूरी हैं।
फूल और कांटे--सभी पर चल कर ही प्रभु के मंदिर तक पहुंचा जाता है।

और, परमात्मा से कभी भी कुछ मत मांगना।
क्योंकि, मांग और प्रेम में विरोध है।
प्रेम तो, बस, देता ही है।
और जो प्रेम सब दे देता है--स्वयं को भी--वही प्रार्थना बन जाता है।

रजनीश के प्रणाम
20-6-1969(प्रभात)

पुनश्चः और जब मैं अजमेर आऊं, तो तू भी आ जाना।
तेरे प्रश्न ऐसे हैं कि सामने बैठेगी तभी आसानी से उत्तर दे सकूंगा। क्योंकि, तब बिना कहे भी बहुत-कुछ कह दिया जाता है।

(प्रतिः कुमारी रोशन जाल, उदयपुर)

17/ स्वतंत्रता का जीवन--प्रेम के आकाश में

प्यारी नीलम,
प्यारे विन्दी,
प्रेम।

तुम प्रेम के मंदिर में प्रवेश करोगे और मैं उपस्थित नहीं रह सकूंगा! इससे मन बहुत दुखता है।
लेकिन, मेरी शुभकामनाएं तो वहां होंगी ही।
और, हवाओं में तुम उनकी उपस्थिति अनुभव करोगे।
तुम्हारा जीवन प्रेम के आकाश में स्वतंत्रता का जीवन बने, यही प्रभु
से मेरी कामना है।

क्योंकि, अक्सर प्रेम की आड़ में परतंत्रता आ जाती है और प्रेम मर जाता है।
प्रेम के फूल तो केवल स्वतंत्रता की क्यारियों में ही खिलते हैं।
इसलिए, तुम अपने विवाह को "विवाह" मत बनने देना।
तुम उसे प्रेम ही रहने देना।
विवाह के नाम पर प्रेम की कितनी कब्रें बन गई हैं!
तुम एक दूसरे को बांधना मत--वरन एक दूसरे को मुक्त करना। क्योंकि, प्रेम मुक्त करता है। और जो बांधता है, वह प्रेम नहीं है।
वहां सबको मेरे प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम
26-6-1969
(प्रतिः श्री विन्दी और सुश्री नीलम, पूना)

18/ संगीतपूर्ण व्यक्तित्व

प्यारी डाली,
प्रेम।
तेरे पत्र आते हैं--तेरे प्राणों के गीतों से भरे।
उनकी ध्वनि और संगीत में जैसे तू स्वयं ही आ जाती है।
मैं देख पाता हूं कि नृत्य करती तू चली आ रही है और फिर मुझमें समा जाती है।
तेरी सूक्ष्म देह अनेक बार ऐसे मेरे निकट आती है।
क्या तू यह नहीं जानती है?
जानती है, जरूर जानती है, भलीभांति जानती है!
वहां सबको प्रेम।

रजनीश के प्रणाम
18-8-1968
प्रभात
(प्रतिः सुश्री डाली दीदी, पूना)

19/ सीखो--प्रत्येक जगह को अपना घर बनाना

प्यारे सुनील,
प्रेम।
तेरा पत्र पाकर अति आनंदित हूं।
घर की याद स्वाभाविक है और तब तक सताती है, जब तक कि हम प्रत्येक जगह
को अपना घर बनाना न सीख लें।
और, वह कला सीखने जैसी है।
अब जितने दिन तू वहां है, उतने दिन उस जगह को अपना ही घर मान कर रह।
सारी पृथ्वी हमारा घर है।
और, समस्त जीवन हमारा परिवार है।
शेष मिलने पर।
वहां सबको मेरे प्रणाम कहना।

रजनीश के प्रणाम
13-5-1970
(प्रतिः श्री सुनीलकुमार शाह, बंबई)

20/ सदा शुभ को--सुंदर को खोज

प्यारी भारती,
प्रेम।
तेरा पत्र पाकर बहुत आनंदित हूं।
जीवन नये-नये अनुभवों का नाम है। जो नित-नये का अनुभव करने में समर्थ है, वही जीवित है।
इसलिए, परदेश को प्रेम से ले।
नये को सीख। अपरिचित को परिचित बना। अज्ञात को जान--पहचान।
निश्चय ही इसमें तुझे बदलना होगा।
पुरानी आदतें टूटेंगी, तो उन्हें टूटने दे।
और, स्वयं की बदलाहट से भयभीत न हो।
परिवर्तन सदा शुभ है। जड़ता सदा अशुभ।
और, सदा ही अतीत की ओर देखते रहना खतरनाक है। क्योंकि, उससे भविष्य के सृजन में बाधा पड़ती है।
पीछे नहीं, जीवन है आगे।
इसलिए आगे देख।
और आगे, और आगे।
स्मृतियों में नहीं, सपनों में जी।
और, जो भी वहां है, उसे निंदा से मत देख। वह दृष्टि गलत है।
जहां भी रहे, वहां सदा शुभ को, सुंदर को खोज।
और, सब जगह, सब लोगों में सुंदर का वास है।
बस, उसे देखने वाली आंख भर चाहिए।
और, ध्यान रख कि जो हम देखते हैं, वही हम हो जाते हैं।
शुभ, तो शुभ। अशुभ, तो अशुभ।
इसलिए, बुरे को मत देख।
वह भारतीय आदत छोड़ तो अच्छा।
मेरे जानने में तो बुरी दृष्टि के सिवाय और कुछ भी बुरा नहीं है।
वहां सबको मेरे प्रणाम कहना।

रजनीश के प्रणाम
30-5-1970
(प्रतिः कुमारी भारती ईश्वरभाई शाह, लंदन)

21/ जाग्रत चित्त है द्वार--स्व-सत्ता का

मेरे प्रिय,
प्रेम।

तुम्हारे पत्र पाकर आनंदित हूं।
धर्म का जन्म से कोई भी संबंध नहीं है।
और, जो ऐसा संबंध बनाते हैं, वे धर्म को हड्डी-मांस-मज्जा से ज्यादा मूल्यवान नहीं मानते हैं।
धर्म शरीर की बात ही नहीं है।
धर्म है--आत्मा का स्वभाव।
और, आत्मा का न जन्म है, न मृत्यु है।
इसलिए, स्वयं को खोजो, स्वरूप को खोजो। वही धर्म है।
और, जन्म से बंध जाने वाले बंधनों--जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई आदि--से बचो।
धर्म के मार्ग में धर्मों से ज्यादा बड़ी बाधा और कोई नहीं है।

धर्मों को विदा दो, ताकि धर्म आ सके।
धर्मों के ही नाम हैं, विशेषण हैं।
धर्म अनाम है।
जो एक ही है, उसके नाम की आवश्यकता भी नहीं है।

उपवास का अर्थ अनशन नहीं है।
उपवास का अर्थ है--स्वयं के निकट वास।
स्वयं के पास रहो--जरूर रहो।
लेकिन, भूखे मरने को उपवास न समझ लेना।
नहीं तो स्वयं के पास नहीं, भोजन के पास ही रहोगे।
हां--यह हो सकता है कि कभी स्वयं में डूबे होने के कारण भोजन का स्मरण
ही न हो--लेकिन, वह बात और है।
ऐसे क्षणों को आयोजित नहीं किया जा सकता है।
ऐसे क्षण तो आते हैं, अनायास।

संयम, साधना नहीं है।
साधो तो भी उसे साध नहीं सकते हो।
क्योंकि, संयम परोक्ष घटना है।
वह तो जाग्रत विवेक की छाया है।
जागो और तुम पाओगे कि संयम आ गया है।
और, जागे बिना संयम को लाना चाहो, तो संयम के नाम से सिर्फ दमन को ही ले आओगे।
दमन भोग का शीर्षासन है।
वह उल्टा हो गया भोग ही है।
उससे धोखे में मत आना।
न चाहिए भोगी चित्त।
न चाहिए दमित चित्त।
क्योंकि, वे दोनों ही निद्राएं हैं।
चाहिए जाग्रत चित्त।
क्योंकि, जाग्रत चित्त स्व-सत्ता का द्वार है।

मंदिर जरूर जाओ।
लेकिन, ईंट-चूने के मंदिरों में मंदिर नहीं है।
मंदिर है मन में।
मंदिर है भीतर।
वहीं जाना मंदिर में जाना है।

ज्ञान का समय से वास्ता ही क्या है?
मोक्ष का युग से नाता ही क्या है?
ज्ञान है समयातीत ()।
मोक्ष है सनातन।
इसलिए, समय और युग उनके लिए बाधाएं नहीं हैं।
न कलियुग।
न पंचमकाल।
जब बंधन सदा संभव है, तो मुक्ति भी सदा संभव है।

और घर के लोग तो बाधा बनेंगे ही।
बंधे हुए लोग किसी को अनबंधा नहीं देख सकते हैं।
लेकिन, उन पर क्रोध न करना।
वरन, सदा दया करना।
वे दया के ही पात्र हैं।
वे तुम्हें गालियां दें, तो सहना।
मूर्ख कहें, तो मजा लेना।
गंभीर भर मत होना।

उनके कार्यकलापों को खेल ही मानना।
और, जो तुम्हें ठीक लगे , सत्य लगे , उस पर निर्भय बढ़ते रहना।
धर्म का मार्ग फूलों की सेज नहीं है।
लेकिन , जो कांटों को सहने की सामर्थ्य रखता है , वह अंततः अनंत के फूलों का हकदार भी हो जाता है।
वहां सबको मेरे प्रणाम।

रजनीश के प्रणाम
10-6-1970
(प्रतिः श्री विजयकुमार बंड , उदखेड़ , महाराष्ट्र)

22/ धर्म को भी प्रत्येक युग में पुनर्जन्म लेना होता है

प्रिय योग भगवती ,
प्रेम।

धर्म को भी प्रत्येक युग में पुनर्जन्म लेना होता है।
शरीर --सभी भांति के शरीर पुराने पड़ जाते हैं और मर जाते हैं।
संप्रदाय धर्म के मृत शरीर हैं।
उनकी आत्मा कभी की निकल चुकी है।
उनकी भाषा तिथि -बाह्य हो गई है।
इसलिए ही उनका अब कोई भी संस्पर्श मनुष्य के प्राणों से नहीं होता है। न ही उनकी अनुगूंज ही मनुष्य की अंतरात्मा में सुनी जाती है।
डा . जान ए . हटन ने एक बार धर्मपुरोहितों की एक सभा में बोलते हुए पूछा थाः धर्म -गुरुओं के उपदेश इतने निर्जीव और निष्प्राण क्यों हो गए हैं ?"
और, जब कोई भी उत्तर देने को खड़ा नहीं हुआ , तो उन्होंने स्वयं ही कहा थाः धर्मोपदेश निष्प्राण हो गए हैं , क्योंकि आप उनमें उन प्रश्नों के उत्तर दे रहे हैं , जिन्हें कि कोई भी नहीं पूछ रहा है !-- चतमंबीमते ंतम जतलपदह जव ंद जीेंज दव इवकल पे ेंपदह्
धर्म सनातन है।
लेकिन , उसका शरीर सदा ही सामयिक होना चाहिए।
शरीर सनातन न है , न हो सकता है।
धर्म का शरीर भी नहीं।

रजनीश के प्रणाम
7-9-1970
(प्रतिः मा योग भगवती , बंबई)

23/ धर्म जीवन का प्राण है

प्रिय योग लक्ष्मी ,
प्रेम।
राजनीति संप्रदाय -मुक्त हो , यह तो शुभ है।
लेकिन , धर्मशून्य हो , यह शुभ नहीं है।
धर्म जीवन का प्राण है। राजनीति जीवन की परिधि से ज्यादा नहीं।
और, परिधि जैसे केंद्र को खोकर नहीं हो सकती है , ऐसे ही राजनीति धर्म को खोकर "राज -नीति " नहीं रह जाती है।
हां --"राज -अनीति " धर्म के अभाव में भी संभव है।
और, शायद राजनीति वही होकर रह गई है।

मैंने सुना है कि एक सफल वकील, एक सफल चोर और एक सफल राजनीतिज्ञ एक ही समय और एक साथ स्वर्ग पहुंचे। वैसे भी तीनों मित्र थे। और जीवन में बहुत रूपों में एक-दूसरे के साथ रहे थे। इसलिए, मृत्यु में भी साथ थे, तो कोई आश्चर्य नहीं है।
संत पीटर ने उनसे पूछाः सच-सच बोलना--जीवन में झूठ कितनी बार बोला है?" चोर ने कहाः तीन बार महाराज।
संत पीटर ने उसे दंडस्वरूप स्वर्ग के तीन चक्कर दौड़ कर लगाने को कहा।
वकील ने कहाः तीन सौ बार महाराज।
वकील को भी तीन सौ चक्कर लगा कर स्वर्ग में प्रवेश की आज्ञा मिल गई।
लेकिन, जब संत पीटर राजनीतिज्ञ की ओर मुड़े तो राजनीतिज्ञ नदारद था।
पास खड़े द्वारपाल ने बताया कि वे अपनी साइकिल लेने चले गए हैं।

रजनीश के प्रणाम
10-10-1970
(प्रतिः मा योग लक्ष्मी, बंबई)

24/ व्यक्तत्व की गूंज प्राणों तक

प्रिय कृष्ण करुणा,
प्रेम।

जो हम कहते हैं, लोग उससे नहीं; वरन जो हम हैं, लोग उससे ही सीखते हैं।
शब्द तो कानों तक ही पहुंचते हैं या बहुत हुआ तो मस्तिष्क तक।
लेकिन, व्यक्तित्व की गूंज प्राणों तक पहुंच जाती है।
फुल्टन शीन प्रवचन देते समय कभी पांडुलिपि पर नजर नहीं डालते थे।
सारा प्रवचन वे जबानी ही देते थे।
एक बार कुछ मित्रों ने उनसे इसका कारण पूछा, तो उन्होंने कहाः एक बार
एक बूढ़ी स्त्री किसी को प्रवचन पढ़ कर सुनाते हुए देख कर हैरानी से बोल उठी थी कि जब ये खुद अपना प्रवचन याद नहीं रख सकते हैं, तो ये कैसे आशा कर सकते हैं कि हम इनका प्रवचन याद रख सकेंगे।"
निश्चय ही जो हम नहीं हैं, उसकी आशा दूसरों से नहीं की जा सकती है।
और, जो हम हैं, उसकी आशा करने की आवश्यकता ही नहीं है; क्योंकि वह तो सहज ही संक्रामक होता है।

रजनीश के प्रणाम
21-10-1970
(प्रतिः मा कृष्ण करुणा, बंबई)

25/ सोएं नहीं, जागें

प्रिय योग लक्ष्मी,
प्रेम।

तथाकथित जीवन एक निद्रा से ज्यादा नहीं है।
सब कुछ निद्रा में ही हो रहा है।
अन्यथा जो मनुष्य करता है, वह करना असंभव है।
जागते हुए स्वयं के लिए नरक निर्मित करना असंभव है।
एक सुबह किसी चर्च में उपदेशक ने देखा कि एक व्यक्ति गहरी नींद ले रहा है।

उसे यह बताने को कि वह नींद में है, उपदेशक ने कहाः जो स्वर्ग जाना चाहते हैं, कृपया वे खड़े हो जावें।
सोए हुए व्यक्ति को छोड़ कर शेष सभी खड़े हो गए।
जागते हुए नरक जाना तो असंभव ही है न!
और फिर, जब सारे लोग वापस बैठ गए, तो उपदेशक ने थोड़ी तेज आवाज में कहाः
अब कृपया वे खड़े हो जावें, जो कि नरक जाना चाहते हैं।
सोया हुआ व्यक्ति चौंक कर खड़ा हो गया।
लेकिन यह देखकर कि वह अकेला ही खड़ा हुआ है, उसने उपदेशक से कहाः श्रद्धेय, मुझे पता नहीं है कि हम किस चीज के लिए मत दे रहे हैं। लेकिन, इतना तो निश्चित है ही कि आप मेरे साथ हैं, क्योंकि हम दोनों के अतिरिक्त और कोई खड़ा हुआ नहीं है। और यह भी साफ जाहिर है कि हम अल्पमत में हैं।-- म इनज पज सववो सपाम लवनंदक टंतम पदं उपदवतपजल 1

रजनीश के प्रणाम
1-11-1970
(प्रतिः मा योग लक्ष्मी, बंबई)

26/ जीवन मन का खेल है

प्रिय योग भगवती,
प्रेम।

जीवन मन का खेल है।
सुख-दुख, शांति-अशांति, सभी मन के विस्तार हैं।

एक व्यक्ति को कभी-कभी गरमी में भी सर्दी लग जाती थी।
चिकित्सक ने जांच की तो पाया कि शरीर में तो कोई भी दोष नहीं है।
उसने रोगी को सलाह दीः आप नित्य यह सोचा करें कि आपके सिर पर सूर्य की कड़ी धूप पड़ रही है, तो आपको सर्दी में भी गरमी का अनुभव होगा और आप बिल्कुल ठीक हो जाएंगे।
लेकिन, चार-छह दिन बाद ही उस व्यक्ति की पत्नी ने चिकित्सक को फोन पर अत्यंत घबड़ाई हुई आवाज में कहाः आप कृपा करके शीघ्र आइए, मेरे पति सख्त बीमार हो गए हैं।"
चिकित्सक ने पूछाः क्या हुआ?
उत्तर मिलाः उन्हें घर में बैठे-बैठे एकाएक लू लग गई है!"

रजनीश के प्रणाम
7-11-1970
(प्रतिः मा योग भगवती, बंबई)

27/ अति विकृति है, समता मुक्त है

प्रिय योग चिन्मय,
प्रेम।

"अति" तनाव है।
अनति विश्राम है।
लेकिन, मानव-मन "अति" में जीता है।
मित्र या शत्रु--तटस्थ कभी नहीं।
भोगी या त्यागी--तटस्थ कभी नहीं।

इस ओर या उस ओर--मध्य में कभी नहीं।
जैसे कि स्वर्ण-मध्य (फवसकमद(उमंद) को मन जानता ही नहीं है।
और यही मनुष्य का संताप (ःदहनपे) है।
यही मनुष्य का नरक है।
जब कि स्वर्ग है मध्य में--दो नरकों के बीच--दो अतियों के बीच।
स्वर्ग है सम्यकत्व।
मुक्ति है समता।

एक आदमी ने झेन फकीर हिकी से कहाः मेरी पत्नी अति कंजूस है--घर मेरा नरक बन गया है--मेरे लिए कुछ करें।"
हिकी उसकी पत्नी से मिलने गया और उसे अपनी मुट्ठी भींच कर दिखाई।
सहज ही उस स्त्री ने पूछाः मतलब?"
हिकी बोलाः फर्ज करो कि मेरी मुट्ठी सदा यों ही रहे, तो तुम क्या कहोगी?
वह स्त्री हंसी और बोलीः आपका हाथ विकृत हो गया है।"
तब हिकी ने अपना हाथ उसके चेहरे के आगे ले जाकर पूरा खोल दिया और पूछाः "यदि हमेशा ऐसा रहे तब?"
उस स्त्री ने पुनः हंस कर कहाः दूसरी तरह की विकृति।"
अब हंसने की बारी हिकी की थी।
वह हंसता रहा और उठ कर चलने को हुआ, तो उस स्त्री ने पुनः पूछाः मतलब?" हिकी ने कहाः अब मुझे कुछ भी नहीं कहना है। यदि तुम इतना समझती हो, तो
सब समझती हो। समस्त धर्म-शास्त्र और समस्त ज्ञानी इतने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहते हैं। अति (द्मगजतमउम) वर्जित है। क्योंकि, अति (द्मगबमे) विकृति है। अति स्वभाव नहीं है। और स्वभाव में होना ही धर्म है।"
हिकी हंसता हुआ चला गया था और वह स्त्री रूपांतरित हो गई थी।
वह स्त्री बुद्धिमान थी। क्योंकि बुद्धिमान वही है, जो इशारे समझ लेता है।
लेकिन, इतने बुद्धिमान लोग जगत में कितने कम हैं!

रजनीश के प्रणाम
10-11-1970
(प्रतिः स्वामी योग चिन्मय, बंबई)

28/ आस्तकता है--जीवन-कला

प्रिय योग भगवती,
प्रेम।

आस्तिकता किसी सिद्धांत का नाम नहीं है।
आस्तिकता धार्मिक सिद्धांत (ैंमवसवहल) नहीं है।
आस्तिकता तो जीवन को देखने और जीने का एक ढंग है।
सौंदर्य देखने और सौंदर्य जीने का।
सत्य देखने और सत्य जीने का।
शिवत्व देखने और शिवत्व जीने का।

ह्वट फील्ड ने एक दिन कहाः ईश्वर ने जो भी बनाया है, वह पूर्ण है।
उसमें किसी प्रकार की कोई खामी नहीं है।"
इस पर श्रोताओं में से एक कुबड़ा उठ कर बोलाः आपका मेरे बारे में क्या खयाल है?"
चर्च में इस प्रश्न से सन्नाटा छा गया।

"आपके बारे में खयाल? ह्वट फील्ड अत्यंत सहानुभूति से उसे देखते हुए बोलेः मैं समझता हूं कि ईश्वर ने आपको ऐसा पूर्ण कुबड़ा बनाया है कि मुझे तो कोई खामी नहीं दिखाई देती है।

रजनीश के प्रणाम
15-11-1970
(प्रतिः मा योग भगवती, बंबई)

29/ क्षण ही शाश्वत है

प्रिय योग प्रिया,
प्रेम।

प्रतिपल जी।
जो काम हाथ आए, उसे कर।
कल पर कुछ न छोड़।
स्थगन की प्रवृत्ति आत्मघाती है।
कल है भी कहां?
जो है, आज है।
जो है, अभी है।
उसे जी लेना है।
क्षण को जी लेना है।
क्षण ही सत्य है।
और, जो क्षण को जीने में समर्थ हो जाता है, वह शाश्वत को उपलब्ध हो जाता है।
जीया क्षण शाश्वत बन जाता है।
और अनजीयी शाश्वतता भी क्षणभंगुर ही रह जाती है।

रजनीश के प्रणाम
12-11-1970
(प्रतिः मा योग प्रिया, आजोल, गुजरात)

30/ जीवन के तथ्यों का आलिंगन

प्रिय योग प्रेम,
प्रेम।

भय छोड़। क्योंकि भय को पकड़ा कि वह बढ़ा।
उसे पकड़ना ही उसे पानी देना है।
लेकिन, भय छोड़ने का अर्थ उससे लड़ना नहीं है।
लड़ना भी उसे पकड़ना ही है।
भय है--ऐसा जान।
उससे भाग मत।
पलायन मत कर।
जीवन में भय है।
असुरक्षा है।
मृत्यु है।
ऐसा जान।
ऐसा है।
यह सब जीवन का तथ्य है।

भागेंगे कहां?
बचेंगे कैसे?
जीवन ऐसा है ही।
इसकी स्वीकृति--इसका सहज अंगीकार ही भय से मुक्ति है। भय स्वीकृत है, तो फिर भय कहां है?
मृत्यु स्वीकृत है, तो फिर मृत्यु कहां है?
असुरक्षा स्वीकृत है, तो फिर असुरक्षा कहां है?
जीवन की समग्रता के स्वीकार को ही मैं संन्यास कहता हूं।

रजनीश के प्रणाम
12-11-1970
(प्रतिः मा योग प्रेम, आजोल, गुजरात)

31/ कांटों में ही फूल छिपे हैं

प्रिय आनंद मूर्ति,
प्रेम।

संकल्प के मार्ग में आती बाधाओं को प्रभु-प्रसाद समझना, क्योंकि उनके बिना संकल्प के प्रगाढ़ होने का और कोई उपाय नहीं है।
राह के पत्थर प्रज्ञावान के लिए, अवरोध नहीं, सीढ़ियां ही सिद्ध होते हैं।
अंततः, सब-कुछ स्वयं पर ही निर्भर है।
अमृत जहर हो सकता है, और जहर अमृत हो सकता है।
फूल कांटों में छिपे हैं।
कांटों को देख कर जो भाग जाता है, वह व्यर्थ ही फूलों से वंचित रह जाता है।
हीरे खदानों में दबे हैं।
उनकी खोज में पहले तो कंकड़-पत्थर ही हाथ आते हैं।
लेकिन, उनसे निराश होना हीरों को सदा के लिए ही खोना है।
एक-एक पल कीमती है।
समय लौट कर नहीं आता है।
और, खोए अवसर खोया जीवन बन जाते हैं।
अंधेरा जब घना हो, तो जानना कि सूर्योदय निकट है।

रजनीश के प्रणाम
17-11-1970
(प्रतिः स्वामी आनंदमूर्ति, अहमदाबाद)

32/ स्वयं में होना ही स्वस्थ होना है

प्रिय योग चिन्मय,
प्रेम।

मनुष्य के व्यक्तित्व में अनेक केंद्र हैं; लेकिन उलझे हुए सूत के धागों जैसा सब-कुछ उलझ गया है।
मन काम-केंद्र का काम कर रहा है।
इससे ही मस्तिष्कगत-यौन (ींमतमइतंस एमग) की विकृतियां पैदा हो गई हैं। एक कहानी याद आती हैः

नेपोलियन के दरबार का एक संभ्रांत व्यक्ति अपनी यात्रा के समय के पूर्व ही वापस आ गया था।
लेकिन, अपने निवास पर पहुंच कर उसने देखा कि उसकी पत्नी राजधानी के प्रधान पुरोहित की बांहों में है।
एक क्षण को तो वह ठिठका और फिर अत्यंत शालीनता से खिड़की के पास जाकर राह चलते लोगों के प्रति आशीर्वाद देने की मुद्रा में खड़ा हो गया!
उसकी पत्नी ने घबड़ा कर पूछा कि यह क्या कर रहे हो! तो उसने कहाः महामहिम पुरोहित जी मेरा कार्य कर रहे हैं, इसलिए मैं उनका कार्य किए दे रहा हूं! (उल निदबजपवदेेव टंउ चमतवितउपदहीपे 1)
लेकिन, ऐसा चित्त के केंद्रों पर नहीं चल सकता है।
यद्यपि, ऐसा ही चल रहा है!
सो परिणाम प्र्रकट हैं।
चित्त कम ही है, चेतना कम ही है, विक्षिप्तता ही ज्यादा है।
मनुष्य एक विक्षिप्त-प्राणी हो गया है।
मनस के स्वास्थ्य के लिए यह अत्यंत आवश्यक है कि चित्त का प्रत्येक केंद्र स्वयं का ही कार्य करे, अन्य का नहीं।
सब केंद्र स्वयं में हों, तो मनुष्य भी स्वयं में होता है।
और, स्वयं में होना ही स्वस्थ होना है।

रजनीश के प्रणाम
18-11-1970
(प्रतिः स्वामी योग चिन्मय, बंबई)

33/ प्रार्थना और प्रतीक्षा

प्रिय पद्मा,
प्रेम।

सुबह होने के करीब है।
अब रात्रि के स्वप्नों की बातें छोड़ और सूर्य के स्वागत की तैयारी कर।
भोर का अंतिम तारा भी डूब रहा है।
अतीत को भूल और भविष्य को देख।
प्रार्थनाएं सुन ली गई हैं और प्रभु-मंदिर के द्वार खुलने को ही हैं।
उन्हीं पर टकटकी लगा।
आंखें यहां-वहां न भटकें। कान और कुछ न सुनें। हृदय और कुछ न मांगे।
प्रतीक्षा और प्रार्थना।
प्रार्थना और प्रतीक्षा।

रजनीश के प्रणाम
27-11-1970
(प्रतिः श्रीमती पद्मा इंजीनियर, पूना)

34/ संकल्प की जागृति

मेरे प्रिय,
प्रेम।

आगे बढ़ें। लक्षण शुभ हैं।

27

ध्यान की गंगा अभी गंगोत्री में है। लेकिन, पहुंचना चाहती है सागर तक।
फिर, सागर दूर भी नहीं है।
संकल्प पूर्ण है, तो गंगोत्री ही सागर बन जाती है।
संकल्प की कमी ही सागर की दूरी है।
संकल्प को संगृहीत करें, क्योंकि संकल्प का बिखराव ही संकल्पहीनता है।
जैसे, किरणें संगृहीत हो अग्नि बन जाती हैं, ऐसे ही संगृहीत संकल्प शक्ति बन जाता है।
यह शक्ति सबमें है।
यह शक्ति स्वरूपसिद्ध अधिकार है।
इसे जगाएं और इकट्ठा करें।
उसका सोया होना ही संसार है।
उसका जागना ही मुक्ति है।

रजनीश के प्रणाम
27-11-1970
(प्रतिः श्री कांतिलाल एम. नायक, अहमदाबाद)

35/ जीना ही एकमात्र जानना है

प्रिय अंसु,
प्रेम।

नहीं--कुछ भी मनुष्य के वश में नहीं है।
क्योंकि, मनुष्य सागर की एक लहर है--सागर से अभिन्न।
इसलिए, सोचो मत--बस, जीयो।
क्षण में--अभी और यहीं।
और, तुलना मत करो।
दो क्षणों की तुलना ही पागलपन है।
क्षण आणविक (ःजवउपब) हैं।
उन्हें एक-दूसरे से तौलने का कोई भी उपाय नहीं है।
जीने का उपाय है--जीने से अलग जानने का उपाय नहीं है।
बस, जानो कि जीना ही एकमात्र जानना है। (पे जीम वदसलादवूपदह्)
और फिर, आनंद ही आनंद है।
क्योंकि, तुलना करनेवाले मन के अतिरिक्त और कहीं आनंद का अभाव नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
14-12-1970
(प्रतिः सुश्री अंसुबेन जानी, गड्ढा(स्वामीना), गुजरात)

36/ जीवन-रस का सूत्र

प्रिय कमलेश,
प्रेम।

रस को उलीचो--फेंको--बिखेरो--चारों ओर।
उसे रखो मत--बांटो।
क्योंकि, बांटना ही उसके बढ़ने का नियम है।

और, रोका कि वह मरा।
रस-दान की इस अनिवार्यता से ही जन्मी हैं समस्त कलाएं।
रस ही अभिव्यक्त होने की आतुरता में कला बन जाता है।
वही बनता है गीत।
वही मूर्ति।
वही बनता है बुद्ध।
वही कबीर।
वही कृष्ण।
रस को उलीचो--फेंको--बिखेरो।
उठते--बैठते।
सोते--जागते।
उसे बांटो।
रोको तो वही रस जहर हो जाता है।
बांटो तो वही अमृत है।

रजनीश के प्रणाम
14-12-1970
(प्रतिः स्वामी चैतन्य वीतराग, रायपुर, म. प्र.)

37/ प्रभु-लीला अदभुत है

मेरे प्रिय,
प्रेम।

प्रभु-लीला अदभुत है।
विरोध से भी कार्य ही होता है।
और, शायद उसके बिना हो ही नहीं सकता है।
इसलिए, जो मेरा विरोध करते हैं, मैं उनका अनुगृहीत ही होता हूं।
जीसस को जिन्होंने सूली दी--उनके साथ न्याय नहीं हुआ है।
क्योंकि, उनके बिना जीसस को कोई जानता भी नहीं।
जीसस का मंदिर जिस सूली को आधार बना कर खड़ा हुआ, उस सूली को जीसस के शत्रुओं ने निर्मित किया था।
काश! उन्हें यह पता होता?
लेकिन, जीसस को यह जरूर ही पता था।
जीसस ने कहा भी थाः ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं!"
सुकरात जैसों को जहर अकारण ही नहीं मिलता है--वे निश्चय ही उसके योग्य होते हैं--ैंमल कमेमतअम पज्
क्योंकि, वह जहर ही उनके संदेशों के लिए अमृत बन जाता है।
इसलिए कहता हूंः प्रभु-लीला अदभुत है!

रजनीश के प्रणाम
14-12-1970
(प्रतिः श्री जयेन्द्र भट्ट, बड़ौदा)

38/ चिंताओं की जड़ें अहंकार में

प्रिय सुशीला,
प्रेम।

प्रभु स्वयं ही उनकी चिंता करता है, जो कि अपनी चिंता छोड़ देते हैं।

लेकिन, स्वयं के रहते स्वयं की चिंता नहीं छूटती है।
असल में स्वयं का होना ही वास्तविक चिंता (ःदगपमजल) है।
शेष सब चिंताएं उस मूल चिंता की ही फीकी प्रतिध्वनियां हैं।
पर मनुष्य मूल को छोड़--स्रोत को छोड़--प्रतिछायाओं को ही मिटाने में जीवन गवां देता है।
और, इधर रावण का एक सिर गिरता है, उधर दूसरा पैदा हो जाता है।
शाखाओं से चलता है संघर्ष और मूल को--जड़ को हम स्वयं ही जल देते रहते हैं।
ऐसी मूढ़ता ही मनुष्य का अभिनय कर रही है।
लेकिन, शाखाएं जिनके हाथ में हैं, वे जड़ों को भी खोज सकते हैं।
शाखाओं से लड़ें न--वरन शाखाओं के सहारे भूगर्भ में उतरें--जड़ों की खोज में।
और, वहां चिंताएं नहीं हैं।
वहां है अस्मिता (द्महव)--वहां है स्व।
और, वह स्व, देखते ही--दर्शन मात्र से ही खो जाता है।
क्योंकि अंधकार ही उनका जीवन है।

रजनीश के प्रणाम
14-12-1970
(प्रतिः श्री सुशीला सिन्हा, पटना)

39/ सत्य प्रेम की कसौटी

मेरे प्रिय,
प्रेम।

सत्य के मार्ग में कांटे हैं--थोड़े नहीं, बहुत।
लेकिन, उनमें ही सत्य प्रेम की परीक्षा भी है।
सत्य के फूल जिन्हें पाना है, उन्हें कांटों से गुजरना ही पड़ता है।
सत्य सस्ता नहीं है।
कभी नहीं था, और कभी होगा भी नहीं।
मूल्य चुकाओ--और घबड़ाओ नहीं।
सूली के पार सिंहासन है।

रजनीश के प्रणाम
14-12-1970
(प्रतिः श्री अखिलानंद तिवारी, धनबाद, बिहार)

40/ जीवन के तथ्यों की आग का साक्षात्कार कर

प्यारी गुणा,
प्रेम।

दैनंदिन जीवन की व्यस्तता को ही जीवन मत समझ लेना।
वह जीवन के लिए जरूरी है, लेकिन जीवन ही नहीं है।
साधन को जो साध्य समझ लेता है, वह व्यर्थ ही जीवन के केंद्र से च्युत
हो जाता है।
फिर, जो खाली न रह सके--अव्यस्त (न्नदवबबनचपमक) क्षण जिसे बोझिल और उबाने वाले हो जावें, उसकी व्यस्तता तो मात्र भुलावा है।
भुलावा--स्वयं का--सत्य का।

भुलावा--जीवन की असारता का।
भुलावा--जो है--उसका।
और ऐसे भुलावे में सोए रहना रुग्ण है।
स्वस्थ तो वही है, जो अव्यस्त क्षणों में आनंदित है।
स्वस्थ तो वही है, जो स्वयं से पलायन (द्मेबंचम) में नहीं है।
स्वस्थ तो वही है, जो निपट स्वयं के साथ ही सुखी और संतुष्ट है।

क्रोध है, तो पश्चात्ताप से कुछ भी न होगा।
क्रोध है, तो उसे जीयो और जानो।
उसे भोगो--उसके जहर को पीयो और उसकी आग में जलो।
क्रोधाग्नि की समग्रानुभूति (ैंवजंस द्मगचमतपमदबपदह) ही उसके बाहर छलांग बन जाती है।
पश्चात्तापादि क्रोध को सदा-सदा के लिए चलाए रखने की योजनाएं हैं।
क्योंकि, पश्चात्ताप के बाद पुनः क्रोध करने की पूर्वास्थिति के अतिरिक्त और क्या उपलब्ध होता है!
पश्चात्ताप अहंकार की पुनर्स्थापना है।
पश्चात्ताप में बहते आंसू मन की चालाकियों के जाल से जन्मते हैं।
अन्यथा, फिर क्रोध असंभव हो जाता न?
स्वर्ग का मार्ग अनिवार्यतः नरक से होकर गुजरता है।
लेकिन जो नरक में भी आंखें बंद करके जीने में कुशल हैं, वे नरक में ही अटक जाते हैं।
आंखें खोलो--धोखा न दो स्वयं को।
क्रोध है, तो जानो कि मैं क्रोध हूं।
और, यहां-वहां भागो मत।
तथ्य में ठहरो।
आग में रुको।
और, फिर छलांग लग जाती है--आग के बाहर--नरक के बाहर।
लेकिन, मनुष्य का कुशल मन कहता हैः मैं बुरा नहीं हूं और यदि बुराई आती है, तो मेरे बावजूद आती है। बुराई मुझमें नहीं है। बुराई परिस्थिति में है। या, दूसरे में है।
ऐसी होशियारियों को समझना।
ऐसी होशियारियां अत्यंत महंगी हैं।
क्योंकि, नरक उनकी आधारशिला पर ही निर्मित होता है।
क्रोध को ही देखो--उसके कारण खोजने में मत लग जाओ।
वह क्रोध के दर्शन से बचना है।
और, क्रोध के दर्शन के अतिरिक्त क्रोध से और कोई नहीं बचा सकता है।

व्यक्ति अकेला है--बिल्कुल अकेला।
इसीलिए, प्रेम है।
इसीलिए, प्रार्थना है।
लेकिन, यह खोज असफल होने को आबद्ध है।
वह असफल होगी ही।
क्योंकि, व्यक्ति स्वयं के अतिरिक्त और किसी को नहीं पा सकता है।
ऐसी ही नियति है।
ऐसा ही नियम है।
इसलिए, जो प्रेम, जो प्रार्थना, दूसरे की खोज की वासना से उत्पन्न होते हैं, वे दुख के अतिरिक्त और कहीं नहीं ले जाते हैं।
इसमें किसी का कसूर नहीं है।
सिर्फ नियम का अज्ञान है।
और, जीवन के नियमों के अज्ञान का फल भोगना ही पड़ता है।
हां--एक और प्रेम भी है--एक और प्रार्थना भी है।
लेकिन, वे स्वयं की खोज और उपलब्धि से निष्पन्न होते हैं।
तब प्रेम मांग नहीं, दान है।
तब प्रार्थना आकांक्षा नहीं, अनुगृहीत चित्त का अहोभाव है।

रजनीश के प्रणाम
14-12-1970
(प्रतिः सुश्री गुणा शाह, बंबई)

41/ मैं नहीं--अब तो वही है

प्रिय कमलेश,
प्रेम।

मैंने नहीं--स्वीकारा है तुम्हें स्वयं प्रभु ने।
अब मैं हूं भी?
देखो--कहीं भी दिखाई पड़ता हूं?
पारदर्शी (ैंतंदेचंतमदज) भी हो गया हूं, स्वयं को खोकर।
इसलिए, जिसके पास भी आंखें हैं, वह मेरे आर-पार देख सकता है।
और, तुम्हारे पास आंखें हैं।
देखो--संकोच छोड़ो--कहीं भी मैं दिखाई पड़ता हूं?
मैं नहीं--अब तो वही है।
और जब मैं कहता हूं "मैं"--तब वही कहता है।
इसलिए, बहुत बार मेरा "मैं" विनम्र भी नहीं मालूम पड़ता है।
क्योंकि, वह मेरा है ही नहीं।
और, जिसका है, उसके लिए क्या विनम्रता--क्या अहंकार?

रजनीश के प्रणाम
15-12-1970

(प्रतिः स्वामी चैतन्य वीतराग, रायपुर, म. प्र.)

42/ अंतः अनुभवों के साक्षी बनें

मेरे प्रिय,
प्रेम।

लक्षण अति शुभ हैं।
मंजिल ज्यादा दूर नहीं है।
प्रार्थना पूर्वक आगे बढ़ते रहें।
जो हो रहा है--जो-जो अनुभव हो रहे हैं, वे बहुमूल्य हैं; लेकिन उनके संबंध में सोच-विचार न करें--बस, उनके साक्षी रहें।
ऐसी अवस्था में विचार बाधा है। विश्लेषण घातक है। व्याख्या विनाश है।
राह पर और भी अनूठे दृश्य आवेंगे--पर उन्हें देखें और आगे बढ़ें।
एक पल भी उनके पास रुकना नहीं है।
अब उन पर न रुकना ही साधना होगी।
उनके संबंध में बस, द्रष्टा से ज्यादा कुछ भी नहीं होना है।
ये क्षण परीक्षा के हैं।
और, ध्यान रहे कि हजार में एक व्यक्ति इस दिशा में चलता है और हजार चलने वालों में एक आगे बढ़ता है और हजार बढ़ने वालों में एक पहुंचता है।
लेकिन, तुम्हारे संबंध में मैं पूर्णतया आशान्वित हूं।

रजनीश के प्रणाम
15-12-1970

(प्रतिः श्री प्रेमसिंह, कपूरथला, पंजाब)

43/ विचार, निर्विचार और सत्य

प्रिय अरुण,
प्रेम।

विचार सम्मोहक (भलचदवजपब) शक्ति है। इसलिए, जैसा सोचोगे, वैसा हो जाओगे।
विचार के बीज सम्हल कर बोना। क्योंकि, फिर वैसी ही फसल उपलब्ध होती है।
स्वयं को साहसहीन समझोगे, तो हो जाओगे। लेकिन, ध्यान रखना कि समझना "होने" के कारण नहीं हैः विपरीत, "होना" ही समझने के कारण है।
मनुष्य वही है, जो सोचता है कि है।
समस्त आकृतियां--स्वयं को दिए गए समस्त रूप विचार-प्रक्षेपण (ैंवनहीज ढतवरमबजपवद) हैं।
इसलिए ही तो, जहां विचार नहीं है, वहीं मनुष्य भी नहीं है।
इसलिए ही तो, जहां विचार नहीं है, वहीं निराकार है।
इसलिए ही तो, जहां विचार नहीं है, वहीं निर्गुण है।
निर्विचार चेतना अर्थात परमात्मा।
आकार देना है, तो विवेक से दो। अन्यथा दो ही नहीं।
विचार करना है, तो सम्हल कर। अन्यथा बिना सम्हले ही निर्विचार में कूदो।
कुछ बनना है, तो सोच कर बनो।
हां--मिटना है, तब सोच-विचार की कोई जगह नहीं है।
लेकिन, बिना सोचे-विचारे बनना घातक है।
क्योंकि, तब आकृतियां विकृत और कुरूप हो जाती हैं।
सत्य को नहीं खोज सकते हो अभी, तो कम से कम "सुंदर" को तो खोजो।
यद्यपि, "सुंदर" की खोज अंततः सत्य की खोज में ले जाती है।
क्योंकि, सत्य ही परम सौंदर्य है।
और, निराकार ही पूर्णाकार है।

रजनीश के प्रणाम
15-12-1970

(प्रतिः श्री अरुणकुमार, पटना)

44/ संकल्प के बिना जीवन स्वप्न है

प्यारी अरुण,
प्रेम।

अब देर न कर और ध्यान में डूब।
बहुत देर तो वैसे ही हो चुकी है।
स्मरण कर--कितने जन्मों की तेरी आकांक्षा है?
अब स्मरण कर--अब संकल्प कर।
साहस के बिना जीवन पर जीवन ऐसे ही बीत जाते हैं।
संकल्प के बिना अवसर पर अवसर ऐसे ही खो जाते हैं।
संकल्प के बिना जीवन स्वप्न है।

और संकल्प न हो, तो स्वप्न भी सत्य हो जाते हैं।
और, संकल्प न हो, तो सत्य भी स्वप्न रह जाते हैं।
संकल्प ही वह कीमिया है, जो कि कंकड़-पत्थरों को हीरों में बदल देती है।

रजनीश के प्रणाम
15-12-1970
(प्रतिः सुश्री अरुण, अमृतसर, पंजाब)

45/ अज्ञान का बोध

प्रिय राज,
प्रेम।

अज्ञान का बोध बड़ी उपलब्धि है।
क्योंकि, ज्ञान के मंदिर में प्रवेश की वह अनिवार्य शर्त है।
तेरा ज्ञान जा रहा है, सो अच्छा है।
जो ज्ञान उधार है, वह ऐसा ही व्यर्थ हो जाता है।
वह व्यर्थ सिद्ध न हो तो ही खतरा है।
अज्ञान को ढंकना ज्ञान नहीं है।
अज्ञान को भूलना ज्ञान नहीं है।
लेकिन, साधारणतः जिसे मनुष्य ज्ञान कहता है, वह ऐसा ही ज्ञान है।
ऐसे ज्ञान से वास्तविक ज्ञान के आगमन का द्वार ही अवरुद्ध हो जाता है।
निर्मम होकर ऐसे ज्ञान को फेंक दे।
कचरे की भांति।
और, उसे लौट-लौट कर भी मत देख।
आगे बढ़--आगे, जहां कि ज्ञान का सूर्य है।
स्व-ज्ञान में।
स्वानुभूति में।
ध्यान में।
समाधि में।

रजनीश के प्रणाम
15-12-1970

(प्रतिः श्रीमती राजशर्मा, अमृतसर, पंजाब)

46/ तीसरी आंख

प्रिय योग समाधि,
प्रेम।

तेरे लिए जो भी संभव है, वह करूंगा।
और, वह भी, जो असंभव है।
क्योंकि, असंभव तो कुछ भी नहीं है।
मदद तुझे दी जा रही है।
अनेक रूपों में।
दृश्य भी--अदृश्य भी।
उसका अनुभव भी तुझे होता है।

धीरे-धीरे अनुभव और भी स्पष्ट होगा।
अदृश्य को पकड़ने के लिए चित्त को समायोजित (ःकरनेज) होने में थोड़ा समय लगता है।
लेकिन, जो भी अनुभव हो, उसे ध्यानपूर्वक देखना।
आंखों को बंद करके।
तो धीरे-धीरे तेरी तीसरी आंख (ैंपतक द्मलम) सक्रिय हो उठेगी।
जिन इंद्रियों से तू अभी परिचित है, अदृश्य में उनका उपयोग नहीं है।
उनकी अपनी सीमा है।
वे दृश्य--सूक्ष्म और अशरीरी हैं।
उनसे तेरा पहला और धुंधला परिचय शुरू हो गया है।
यह शुभ है और मैं प्रसन्न हूं।

रजनीश के प्रणाम
15-12-1970
(प्रतिः मा योग समाधि, राजकोट, सौराष्ट्र)

47/ खोजो--स्वयं को

प्रिय राजेंद्र,
प्रेम।

जीवन है एक स्वप्न।
जन्म और मृत्यु के बीच फैला हुआ एक इंद्रधनुष।
है, तो भी नहीं है।
और, नहीं है, तो भी अंतर नहीं पड़ता है।
इसलिए, शरीर की चिंता छोड़ो।
और, खोजो स्वयं को।
स्वयं की चेतना को।
उसे जो शरीर में है और शरीर नहीं है।
उस अशरीरी के प्रति जागते ही सब बदल जाता है।
जैसे आधी रात हो और अचानक सूर्य निकल आए। या जैसे मरुस्थल में अचानक गंगा का आगमन हो जाए।
बस, ऐसे ही सब बदल जाता है।
व्यर्थ चिंताओं में समय न खोओ।
और, व्यर्थ आशाओं में भी नहीं। क्योंकि, जीवन में आत्मा के अतिरिक्त
और कोई आशा नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
16-12-1970
(प्रतिः श्री राजेंद्र आकुल, जबलपुर)

48/ मन से तादात्म्य तोड़

प्रिय योग प्रेम,
प्रेम।

हवा के झोंकों में कंपती दीये की ज्योति की भांति है मन।
कंपेगा।
दुविधा में पड़ेगा।
खंड-खंड होता रहेगा।

तू उसके पार हो।
उससे दूर हो।
उससे ऊपर उठ।
उसे पीछे छोड़--नीचे छोड़।
तू मन नहीं है।
तू तो वही है, जो कि मन को भी जानता है।
उसके कंपनों को जानता है।
उसकी दुविधाओं को जानता है।
इस जानने (ज्ञदवूपदह) में ही ठहर।
इस द्रष्टा-भाव में ही रमण कर।
तू तो यह साक्षी (रूपजदमे) ही बन।
और फिर, इस अतिक्रमण से मन शांत हो जाता है।
ऐसे ही जैसे कि हवा के झोंके बंद हो गए हों, तो दीये की लौ नहीं कंपती है।
मन से स्वयं का तादात्म्य (टकमदजपजल) ही हवा के झोंकों का काम करता है।
इधर टूटा तादात्म्य--उधर हुई आंधियां बंद।
और, जहां आंधियां नहीं हैं, वहीं आनंद है।

रजनीश के प्रणाम
16-12-1970

(प्रतिः मा योग प्रेम, आजोल)

49/ प्रेम के मार्ग पर कांटे भी फूल बन जाते हैं

प्यारी मधु,
प्रेम।

मीरा ने ऐसे ही नहीं गाया हैः "सूली ऊपर सेज पिया की।"
सच में ही सेज सूली के ऊपर ही है।
या कि सूली ही सेज है?
लेकिन, पिया की खोज का आनंद सूलियों की चिंता नहीं करता है।
प्रेम के मार्ग पर पड़े कांटे अनायास ही फूल बन जाते हैं।
वहां अंधेरा भी प्रकाश है।
और, विष भी अमृत है।
और, वे अभागे हैं, जो कि ऐसे विष को नहीं जानते हैं, जो कि अमृत है।
लेकिन, तू तो जान रही है।
और भी जानेगी।
और इसलिए, जो जानते हैं, वे तुझसे ईर्ष्या करें, तो आश्चर्य तो नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
16-12-1970
(प्रतिः मा आनंद मधु, आजोल)

50/ संन्यास सब से बड़ा विद्रोह है

प्रिय कृष्ण कबीर,
प्रेम।

संन्यास बड़ा से बड़ा विद्रोह है--संसार से, समाज से, सयता से।
वह मूल्यों का मूल्यांतरण है।
वह स्वयं से, स्वयं में और स्वयं के द्वारा क्रांति है।
इसलिए, अनेक प्रकार की कठिनाइयां सहनी होंगी।
विरोध होगा।
हंसी होगी।
लेकिन, उस सबके साक्षी बनना।
वह परीक्षा है।
और, उससे तुम निखरोगे और उज्ज्वल बनोगे।
उनका अनुग्रह मानना, जो तुम्हें सतावें।
क्योंकि वे ही तुम्हारे लिए परीक्षा का अवसर देंगे।
विनम्रता से सब सहना।
संतोष से सब स्वीकार करना।
और, तब तुम पाओगे कि इस जगत में शत्रु कोई भी नहीं है।
सिवाय स्वयं के अहंकार के।

रजनीश के प्रणाम
16-12-1970
(प्रतिः स्वामी कृष्ण कबीर, अहमदाबाद)

51 जीवन है चुनौती--अनंत आयामी

प्रिय कमलेश,
प्रेम।
जीवन चुनौती है ही।
अनंत आयामी (ऊनसजप(क्पउमदेपवदंस)।
इसलिए ही तो जीवन ठहराव नहीं, गति है।
अंतहीन।
इसलिए, जो जीवन को चुनौती की भांति नहीं लेते हैं, वे जीते नहीं, बस मरते ही हैं।
पूरे जीवन। जन्म से मृत्यु तक उनकी, बस, एक ही गति है--मृत्यु की ओर।
उनकी मंजिल सुनिश्चित है, क्योंकि उनका मुकाम मृत्यु है।
जीवन है अनिश्चित। प्रतिपल नया।
अनायोजित। अनपेक्षित।
जीवन की भविष्यवाणी नहीं हो सकती है।
जीवन का ज्योतिष नहीं है।
सब ज्योतिष मृत्यु के ही हैं।
इसलिए ही जीवन चुनौती (ींंससमदहम) है।
मृत्यु हैः विश्राम।
जीवन हैः संघर्ष।
लेकिन, विश्राम भी उन्हीं के लिए है मृत्यु, जिन्होंने जीवन का संघर्ष किया है।
जो जीए ही नहीं, उनके लिए मृत्यु भी, बस, भय के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।
इसलिए, जो जितना भयभीत है मृत्यु से, वह उतना ही कम जीवित है।
जो जीवित है, उसके लिए तो जैसे मृत्यु है ही नहीं।
जीवन के संघर्ष से ही मृत्यु का विश्राम-रूप अर्जित होता है।
वह जीवन की कमाई है।
इसलिए, जो मृत्यु को कमाकर मरता है, वह अमृत को उपलब्ध हो जाता है।
जैसे कोई जीसस। जैसे कोई सुकरात।
कमाओ मृत्यु को--जीवन की सारभूत चुनौती यही है।

रजनीश के प्रणाम
16-12-1970

(प्रतिः स्वामी चैतन्य वीतराग, रायपुर, म. प्र.)

52/ मन का रेचन--ध्यान में

प्रिय कुसुम,
प्रेम।
भय न करो।
ध्यान में जो भी हो--होने दो।
मन रेचन (ींजींतेपे) में है, तो उसे रोको मत।
चित्त-शुद्धि का यही मार्ग है।
अचेतन (न्नदबवदेबपवने)में जो भी दबा है, वह उभरेगा।
उसे मार्ग दो, ताकि उससे मुक्ति हो सके।
उसे दबाया कि ध्यान व्यर्थ हुआ।
और, उससे मुक्ति हुई नहीं कि ध्यान सार्थक हुआ।
इसलिए, समस्त उभार का स्वागत करो।
और, उसे सहयोग भी दो।
क्योंकि, अपने आप जो कार्य बहुत समय लेगा, वह सहयोग से अल्पकाल में ही
हो जाता है।

रजनीश के प्रणाम
17-12-1970
(प्रतिः कुसुम, पूना)

53/ स्वयं को प्रभु-पूजा का नैवेद्य बना

प्यारी विमल,
प्रेम।
स्वीकृत है--तू सदा से ही स्वीकृत है।
जैसी है, वैसी ही।
प्रभु-मंदिर के द्वार सदा ही बेशर्त खुले हैं।
स्वयं को ही जो स्वयं स्वीकार नहीं कर पाते हैं, उनके अतिरिक्त प्रभु- मंदिर में कोई भी अस्वीकृत नहीं होता है।
लेकिन, उसकी जिम्मेवारी स्वयं उन पर ही है।
आत्म-निंदा अधर्म है--शायद वही एकमात्र अधर्म है।
आत्म-निंदा ही मूल पाप (ठतपहपदंस एपद) है।
क्योंकि, आत्म-निंदक स्वयं को प्रभु-पूजा का नैवेद्य नहीं बना पाता है।
स्वयं की पूर्ण स्वीकृति (ैंवजंस:बबमचजंदबम) से जीवन में जो फूल खिलता है, वही तो प्रभु-चरणों में रखा जा सकता है।

रजनीश के प्रणाम
17-12-1970

पुनश्चः सूद जी को प्रेम। उनका स्वास्थ्य अब कैसा है? उनकी सेवा ही तेरी साधना है।

(प्रतिः श्रीमती विमल सूद, पूना)

54/ ध्यान आया कि मन गया

प्रिय ललिता,
प्रेम।
ध्यानोपलब्धि समय का सवाल नहीं है।
संकल्प (रूपसस) का है।
संकल्प पूर्ण हो, तो क्षण में भी ध्यान घटित होता है।
और, संकल्पहीन चित्त जन्मों-जन्मों तक भी भटक सकता है।
संकल्प को प्रगाढ़ कर।
संकल्प को केंद्रित कर।
संकल्प को पूर्ण कर।
और फिर, ध्यान स्वतः ही तेरे द्वार खटखटाएगा।
और, मन तब तक सताता ही है, जब तक ध्यान नहीं है।
मन (ऊपदक) ध्यान (ऊमकपजंजपवद) के अभाव का ही नाम है।
जैसे अंधकार प्रकाश के अभाव का नाम है--ऐसे ही।
प्रकाश आया कि अंधकार गया।
ध्यान आया कि मन गया।
इसलिए, अब ध्यान में डूब।
शेष सब पीछे स्वयं ही चला आता है।

रजनीश के प्रणाम
17-12-1970
(प्रतिः सुश्री ललिता राठौर, चन्द्रावतीगंज, फतेहाबाद)

55/ जो है--है, फिर द्वंद्व कहां!

प्रिय गीतगोविन्द,
प्रेम।
निराश क्यों होते हो?
क्या निराशा अति-आशा का ही परिणाम नहीं है?
उदास क्यों होते हो?
क्या उदासी अति-अपेक्षा (द्मगचमबजंजपवद) की ही छाया नहीं है? निराशा पूर्ण हो, तो फिर निराश होने का उपाय नहीं रहता है।
उदासी पूर्ण हो, तो वह भी उत्सव बन जाती है।
इसलिए कहता हूंः द्वंद्व छोड़ो।
यह धूप-छांव का खेल छोड़ो।
जागो और जानो कि जो है--है।
अंधकार तो अंधकार।
मृत्यु तो मृत्यु।
जहर तो जहर।
और फिर देखोः अंधकार कहां है!
और फिर खोजोः मृत्यु कहां है?
अंधकार है--आलोक की आकांक्षा में।
मृत्यु है--अनंत जीवेषणा में
और, जहर अमृत की मांग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
17-12-1970

(प्रतिः स्वामी गीतगोविन्द, अहमदाबाद)

56/ कारण स्वयं में खोज

प्रिय चंदन,
प्रेम।
जगत न दुख है, न सुख।
जगत वैसा ही हो जाता है, जैसी कि हमारी दृष्टि है।
दृष्टि ही सृष्टि है।
प्रत्येक स्वयं अपने जगत का निर्माता है।
यदि, तुझे जीवन का प्रत्येक क्षण दुख देता है, तो कहीं न कहीं तेरी दृष्टि में भूल है।
और यदि, तुझे सब ओर अंधकार ही अधंकार दिखाई पड़ता है, तो निश्चय ही तूने आलोक को देखने वाली आंखें बंद कर रखी हैं।
स्वयं पर पुनर्विचार कर।
स्वयं को नये सिरे से देख।
दूसरों को दोष दिया, तो स्वयं की भूल न खोज पाएगी।
परिस्थितियों को दोष दिया, तो मनःस्थिति की जड़ों में प्रवेश न हो सकेगा।
इसलिए, जो स्थिति है, उसके कारणों को स्वयं में खोजने निकल।
कारण सदा स्वयं में ही होते हैं।
लेकिन सदा ही दूसरों में दिखाई पड़ते हैं।
इस भूल से बचना और फिर दुख को बचाए रखना मुश्किल होगा।
दूसरे तो सिर्फ दर्पण (ऊपततवत) का काम करते हैं।
चेहरा तो सदा हमारा अपना ही होता है।
जीवन महोत्सव हो सकता है।
लेकिन, स्वयं को नये सिरे से सृजन करना आवश्यक है।
और, वह कार्य कठिन नहीं है।
क्योंकि, स्वयं की दृष्टि की भूलों के दर्शन से ही उन भूलों के प्राणांत शुरू हो जाते हैं और नये व्यक्ति का जन्म होने लगता है।

रजनीश के प्रणाम
17-12-1970
(प्रतिः सुश्री चंदन वी. पंडया, बड़ौदा, गुजरात)

57/ खिलना--संन्यास के फूल का

मेरे प्रिय,
प्रेम।
जीवन में जो भी शुभ है, सुंदर है, सत्य है, संन्यास उन सबका समवेत संगीत है।
संन्यास के बिना जीवन में सुवास असंभव है।
जीवन अपने आप में जड़ों से ज्यादा नहीं है।
संन्यास का फूल--जब तक न खिले, तब तक जीवन--अर्थ और आनंद और अहोभाव को उपलब्ध नहीं होता है।
और, मैं यह जान कर अत्यधिक आनंदित हूं कि आत्म-क्रांति का वह अमूल्य क्षण तुम्हारे जीवन में आकर उपस्थित हो गया है।
तुम्हारी आंखों में उस क्षण को मैंने देखा है।

वैसे ही जैसे भोर में सूर्योदय के पूर्व आकाश लालिमा से भर जाता है, ऐसे ही संन्यास के पूर्व की लालिमा को मैंने तुम्हारे हृदय पर फैलते देखा है।
पक्षी स्वागत-गीत गा रहे हैं और सोए पौधे जाग रहे हैं।
अब देर उचित नहीं है।
ऐसे भी क्या काफी देर नहीं हो चुकी है?

रजनीश के प्रणाम
17-12-1970
(प्रतिः अनूपचंद एम. शाह, सुरेन्द्रनगर, गुजरात)

58/ तेरी मर्जी पूरी हो (इम कवदम)

मेरे प्रिय,
प्रेम।
समर्पण--पूर्ण समर्पण () के अतिरिक्त प्रभु के मंदिर तक पहुंचने का और कोई भी मार्ग नहीं है।
छोड़ें--सब उस पर छोड़ें।
नाहक स्वयं के लिए सिर पर बोझ न ढोवें।
जो उसकी मर्जी--इस सूत्र को सदा स्मरण रखें।
जीसस ने कहा हैः "तेरी मर्जी पूरी हो--ैंल रूपसस ईम क्वदम्"
इसे स्वयं से कहते रहें।
चेतन से अचेतन तक यही स्वर गूंजने लगे।
जागते--सोते--यही धुन बजने लगे।
और फिर, किसी भी क्षण जैसे ही समर्पण पूर्ण होता है, समाधि घटित हो जाती है।
समर्पण की पूर्णता ही समाधि है।
और, स्वयं का विसर्जन ही समर्पण है।
कहेंः "जो उसकी मर्जी"--और भीतर देखें।
क्या कुछ टूटता और खोता हुआ नहीं मालूम पड़ता है?
क्या कुछ नया और अपरिचित जन्म लेता हुआ नहीं मालूम पड़ता है?

रजनीश के प्रणाम
17-12-1970
(प्रतिः श्री काशीनाथ सोमण, पूना)

59/ स्वयं का समग्र स्वीकार

प्रिय समीर,
प्रेम।
स्वयं से लड़ो मत।
व्यर्थ है वैसी लड़ाई।
क्योंकि, उससे जीत कभी भी फलित नहीं होती है।
स्वयं से लड़ना क्रमिक आत्मघात (फतंकनंस एनपबपकम) के अतिरिक्त और कुछ
भी नहीं है।
स्वयं को स्वीकारो।
प्रसन्नता से।
अनुग्रह से।
जो भी शुभ है।
काम भी, क्रोध भी।

क्योंकि, जो भी है--प्रभु से है।
उसे स्वीकारो और समझो।
उसमें छुपी संभावनाओं को खोजो और खोलो।
फिर तो, काम (एमग) भी राम का ही बीज मालूम होता है।
और, क्रोध ही क्षमा का द्वार बन जाता है।
अशुभ (द्मअपस) शुभ (फववक) का शत्रु नहीं है।
वरन अशुभ मात्र अवरुद्ध शुभ है।

रजनीश के प्रणाम
17-12-1970
(प्रतिः श्री समीर कुमार, अकोला, महा0)

60/ सत्य को खोजे बिना, जीवन असार है

प्यारी कौमुदी,
प्रेम।
संसार स्वप्न ही है।
खुली आंखों देखा गया स्वप्न।
जन्म और मृत्यु के बीच जो है, वह सत्य नहीं है।
क्योंकि, सत्य का न कोई जन्म है और न कोई मृत्यु है।
सब जन्म स्वप्न के हैं--सब मृत्युएं भी स्वप्न की हैं।
जिसका आरंभ है और अंत है--वही स्वप्न है।
जिसका न आदि है, न अंत--वही सत्य है।
ऐसे, सत्य को खोजे बिना जीवन असार है।
और, मजा तो यह है कि वह सत्य स्वयं में ही है।
उसे खोजने कहीं भी नहीं जाना है--न काशी, न काबा।
और, न ही उसे खोजने के लिए भविष्य की या अवसर की ही प्रतीक्षा करनी है।
क्योंकि, वह अभी और यहीं उपलब्ध है।
लेकिन, मनुष्य स्वयं को छोड़ कर और सब कहीं जाता है।
स्वयं को छोड़ कर और सब कुछ खोजता है।
परिणामतः, स्वयं को छोड़ कर वह सब कहीं पहुंच जाता है।
और, स्वयं को खोकर वह शेष सब पा लेता है।
और, ऐसे जो सम्राट हो सकता है, वह अपने ही हाथों भिखारी हो जाता है।
पर, ऐसी भूल में अब तू न पड़ना।
ध्यान में गहरे उतर--ताकि स्वयं के सत्य को जान सके।
संसार के स्वप्न को समझ--ताकि स्वयं के सत्य को जान सके।
उसे खोज, जो कि अजन्मा है, अज्ञात है--ताकि उसे पा सके, जो कि अमृत है।

रजनीश के प्रणाम
17-12-1970
(प्रतिः सुश्री कौमुदी नटवर लाल, अफ्रीका)

61/ ध्यान की अनुपस्थति है मन

मेरे प्रिय,
प्रेम।
ध्यान के लिए श्रम करो।
मन की सब समस्याएं तिरोहित हो जावेंगी।
असल में तो मन ही समस्या है (ऊपदक पे जीम चतवइसमउ)।
शेष सारी समस्याएं तो मन की प्रतिध्वनियां मात्र हैं।

एक-एक समस्या से अलग-अलग लड़ने से कुछ भी न होगा।
प्रतिध्वनियों से संघर्ष व्यर्थ है।
पराजय के अतिरिक्त उसका और कोई परिणाम नहीं है।
शाखाओं को मत काटो।
क्योंकि, एक शाखा के स्थान पर चार शाखाएं पैदा हो जावेंगी।
शाखाओं को काटने से वृक्ष और भी बढ़ता है।
और, समस्याएं शाखाएं हैं।
काटना ही है, तो जड़ को काटो।
क्योंकि, जड़ के कटने से शाखाएं अपने आप ही विदा हो जाती हैं।
और, मन है जड़।
इस जड़ को काटो ध्यान से।
मन है समस्या।
ध्यान है समाधान।
मन में समाधान नहीं है।
ध्यान में समस्या नहीं है।
क्योंकि, मन में ध्यान नहीं है।
क्योंकि, ध्यान में मन नहीं है।
ध्यान की अनुपस्थिति है मन।
मन का अभाव है ध्यान।
इसलिए कहता हूंः ध्यान के लिए श्रम करो।

रजनीश के प्रणाम
18-12-1970
(प्रतिः श्री भोगीलाल मोदी, आजोल, गुजरात)

62/ विराट अदृश्य का स्पर्श

प्रिय योग करुणा,
प्रेम।
मैं सदा साथ हूं।
साधना में जब भी तेरे पैर डगमगाएं, स्मरण करना मुझे।
और, तू पाएगी कि अदृश्य हाथों से सहायता पहुंच गई है।
दृश्य शक्तियां ही सब कुछ नहीं हैं।
वस्तुतः तो अदृश्य शक्तियों के सागर के समक्ष वे छोटे-मोटे झरनों से ज्यादा नहीं हैं।
और, उनका मूल स्रोत भी अदृश्य में ही है।
लेकिन, अदृश्य से सहायता लेना भी एक कला है।
और, शायद वही श्रेष्ठतम कला है।
मौन होकर, असहाय होकर, अदृश्य के हाथों में स्वयं को छोड़ते ही विराट
से संबंध निर्मित हो जाते हैं।
मैं तो अभी, बस, एक सीढ़ी का काम कर रहा हूं।
जैसे ही तेरा सीधा संबंध स्थापित हो जाए, वैसे ही सीढ़ी को हटा देना है।
सीढ़ियों पर चढ़ना भी होता है और फिर सीढ़ियों से उतरना भी होता है।
अभी मुझे स्मरण रखो, फिर मुझे विस्मरण भी करना।
लेकिन, विस्मरण तो वही कर सकेगा न, जिसने कि स्मरण किया है!

रजनीश के प्रणाम
18-12-1970
(प्रतिः मा योग करुणा, आजोल, गुजरात)

63/ बस, स्मरण कर स्वयं का

प्यारी निर्मल,
प्रेम।
काश! तू अयोग्य होती तो योग्य बनाना आसान था। सोए को जगाना क्या कठिन है।
लेकिन, जागे को जगाने की कठिनाई भारी है!
है न?
कोई भी अयोग्य नहीं है--यही कठिनाई है!
कोई भी अपात्र नहीं है--यही कठिनाई है। प्रभु कण-कण में मौजूद है, तो अयोग्यता कैसी? वही है, और कोई नहीं है, तो अपात्रता कहां? इसलिए, बस, स्मरण कर स्वयं का।
स्मरण कर।
स्मरण कर।
और, स्मरण रख कि मैं सदा साथ हूं।
घर में नहीं, तेरे हृदय में ही उपस्थित हूं।
आंखें बंद कर और देख--क्या नहीं हूं?

रजनीश के प्रणाम
19-12-1970
(प्रतिः सुश्री निर्मल, अहमदाबाद)

64/ ध्यान में घटी मृत्यु के पार ही समाधि है

मेरे प्रिय,
प्रेम।
ध्यान के वृक्ष पर फूल आने शुरू हो गए हैं।
नाचो।
खुशी मनाओ।
और, प्रभु को धन्यवाद दो।
जन्मों की प्यास पूरी होने के करीब है।
जो सदा-सदा चाहा था, वह होने के निकट है।
भय न करना।
चाहे कुछ भी हो।
मृत्यु भी घटित होती मालूम हो, तो भी आनंद से साक्षी बने रहना।
क्योंकि, ध्यान में घटी मृत्यु के पार ही समाधि है।
और, समाधि अमृत है।
अब कठिन होगी चढ़ाई।
क्योंकि, शिखर निकट है।
लेकिन, धैर्य से और प्रार्थना पूर्वक आगे बढ़ते रहो।
जब भी उलझ जाओ,
या मार्ग खोता मालूम पड़े,
या साहस न जुटा पाओ,
या दुविधा घेर ले,
तभी मेरा स्मरण करना।
लेकिन, जहां तक बन सके साधारणतः मुझे मत पुकारना।
स्वयं ही जूझना।
स्वयं ही लड़ना।
जब और कोई उपाय ही न रहे, और पाओ कि असहाय हो, तभी मुझे स्मरण करना।
वैसे तुम्हारे स्मरण के बिना भी जो जरूरी है, वह मैं करता ही रहता हूं।

रजनीश के प्रणाम
19-12-1970
(प्रतिः श्री चंद्रकांत सोलंकी, सुरेन्द्रनगर, सौराष्ट्र)

65/ स्वप्न में डूबना ही दुख है

प्रिय नीला,
प्रेम।
चिंता न लो।
इस जीवन में चिंता जैसा कुछ है ही नहीं।
समझो कि सब स्वप्न है।
है भी।
जो आज है और कल नहीं है--वह स्वप्न ही है।
उसमें इतना मत डूबो।
डूबने से ही चिंता जन्मती है।
स्वप्न से बाहर निकलो।
जरा दूर खड़े होकर सब देखो।
थोड़ा द्रष्टा बनो।
स्वप्न में डूबना ही दुख है और स्वप्न में जागते ही स्वप्न बिखर जाता है।
और, वही आनंद भी है।

रजनीश के प्रणाम
19-12-1970
(प्रतिः सुश्री नीला, विलेपारले, बंबई)

66/ शुभ है बोध--अभाव, खालीपन और अधूरेपन का

मेरे प्रिय,
प्रेम।
प्रभु के बिना जीवन अधूरा है ही।
इसलिए, अधूरा लगता है।
वैसे, यह बोध--अभाव--अधूरेपन की यह प्रतीति शुभ है।
क्योंकि, इस बोध से और इस बोध के कारण ही ब्रह्म की जिज्ञासा शुरू होती है।
"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।"
इस बोध से बचना भर नहीं।
इस अभाव से भागना भर नहीं।
इस प्रतीति से पलायन भर नहीं करना।
वैसे मन पलायन ही सुझाएगा।
वह पलायन ही संसार है।
संसार पलायन (द्मेबंचम) है।
संसार की सारी व्यस्तता पलायन है।
वह अभाव को भरने की निष्फल कोशिश है।
इसलिए, उस दौड़ के फलस्वरूप सिवाय विषाद के और कुछ भी हाथ नहीं लगता है।
क्योंकि, चाहिए प्रभु--और भरते हैं पदार्थ से।
क्योंकि, चाहिए धर्म--और भरते हैं धन से।
क्योंकि, चाहिए "स्व"--और भरते हैं "पर" से।

फिर, सब मिल भी जाता है और फिर भी कुछ नहीं मिलता है।
फिर, अभाव--और गहन होकर प्रकट होता है।
ऐसे क्षण बहुमूल्य हैं; क्योंकि ऐसे क्षण चुनाव और निर्णय के क्षण हैं।
या तो, फिर पलायन चुना जा सकता है।
या, पलायन के चुनाव से इनकार किया जा सकता है।
पलायन चुना, तो फिर वही परिणाम हैं।
जन्मों-जन्मों तक फिर वही परिणाम हैं।
अब रुको और पलायन मत चुनो।
अभाव से भागो मत--अभाव में ठहरो।
खालीपन को भरो मत, वरन स्वयं में खालीपन को ही पूर्णतया भर जाने दो।
और, वह क्रांति हो जाएगी, जिसका कि नाम संन्यास है।
और, वह मिल जाएगा, जो कि समस्त अभावों को वाष्पीभूत कर देता है।
लेकिन, ध्यान रहे कि यह मात्र बुद्धि में नहीं घटती है।
सोचो मत--अब जानो--अब अनुभव करो।
ऐसे भी क्या सोच-विचार कुछ कम किया है!

रजनीश के प्रणाम
20-12-1970
(प्रतिः श्री आर. के. नंदानी, राजकोट, सौराष्ट्र)

67/ ध्यान में पूरा डूबना ही फल का जन्म है

मेरे प्रिय,
प्रेम।
जल्दी न करें।
धैर्य रखें।
धैर्य ध्यान के लिए खाद है।
ध्यान को सम्हालते रहें।
फल आएगा ही।
आता ही है।
लेकिन, फल के लिए चिंतित न हों।
क्योंकि, वैसी चिंता ही फल के आने में बाधा बन जाती है।
क्योंकि, वैसी चिंता ही ध्यान से ध्यान को बंटा लेती है।
ध्यान (ऊमकपजंजपवद) पूरा ध्यान (ःजजमदजपवद) मांगता है। बंटाव नहीं चलेगा। आंशिकता नहीं चलेगी।
ध्यान तुम्हारी समग्रता (ैंवजंसपजल) के बिना संभव नहीं है।
इसलिए, ध्यान के कर्म पर ही लगो और ध्यान के फल को प्रभु पर छोड़ो।
और, फल आ जाता है।
क्योंकि, ध्यान में पूरा डूबना ही फल का जन्म है।

रजनीश के प्रणाम
20-12-1970
(प्रतिः श्री रजनीकांत, पोरबंदर, गुजरात)

68/ बीज के अंकुरित होने में समय लगता है

प्रिय कृष्ण चैतन्य,
प्रेम।
देखता हूं--देख रहा हूं, तुम्हारे धूप-छांव मन को।

डगमगाते पैर और बार-बार खोता-मिलता मार्ग--सब देख रहा हूं।
करुणा आती है।
जो कर सकता हूं--जो किया जा सकता है, वह सब कर भी रहा हूं। फिर भी जल्दी नहीं कर सकता हूं।
क्योंकि, प्रत्येक बीज के फूटने का अपना समय है।
उसके लिए प्रतीक्षा करनी ही होती है।
और फिर, मनुष्य का मन स्व-विरोधी संभावनाओं को एक ही साथ सम्हालने में
भी लग सकता है।
तब तो, स्थिति और भी जटिल हो जाती है।
क्या तुम स्वयं को दो नावों में एक ही साथ सवार हुआ नहीं देख पा रहे हो?

रजनीश के प्रणाम
20-12-1970
(प्रतिः स्वामी कृष्ण चैतन्य, आजोल)

69/ जीवन का सत्य अनेकांत है

मेरे प्रिय,
प्रेम।
जीवन खण्डित नहीं है--न काल (ैंपउम) में, न आकाश (एचंबम) में।
जीवन कुछ है, तो अखंडता है--अखंड प्रवाह है।
अतीत, वर्तमान, भविष्य--अखंड काल-प्रवाह में खींची गई मानवीय रेखाएं हैं।
वे वस्तुतः कहीं हैं नहीं, सिवाय मनुष्य के मन को छोड़ कर।
मन ही समय है (पेैंपउम)।
वैसे ही आकाश भी अखंड है।
मैं शरीर पर समाप्त नहीं होता हूं--वस्तुतः तो, समग्रता की सीमा या असीमा ही मेरी सीमा है।
किंतु, मन खंड किए बिना नहीं मानता है।
वह है प्रिज्म की भांति और खंडन ही उसका कार्य है।
उससे गुजर कर अस्तित्व की किरण अनेक किरणों और रंगों में विभाजित हो जाती है।
मूल में जो एक है, वही शाखाओं में अनेक हो जाता है।
मूल सनातन है--अनादि--अनंत है।
शाखाएं सामयिक हैं--उनका आदि भी है और अंत भी है।
शाखाएं परिवर्तन हैं।
मूल नित्य है।
मूल न बदलता है, न बदला जा सकता है।
हां--बदलने की आकांक्षा की जा सकती है और तब ऐसी आकांक्षा अनिवार्यतः विफलता और विषाद में ले जाती है।
शाखाएं बदलती ही रहती हैं।
उन्हें बदलने से नहीं रोका जा सकता है।
लेकिन, वे न बदलें, ऐसी आकांक्षा जरूर की जा सकती है और तब ऐसी आकांक्षा अनिवार्यरूपेण विफलता और विषाद में ले जाती है।
पश्चिम पहले प्रकार की विफलता और विषाद में है।
पूर्व दूसरे प्रकार की विफलता और विषाद में है।
और अभी तक ऐसी संस्कृति को मनुष्य जन्म नहीं दे पाया है, जो सफल ही न
हो सुफल भी हो।
जिन दो सत्यों की बात मैंने ऊपर कही है--मूल का सत्य और शाखाओं का सत्य--नित्य का नियम और अनित्य का नियम--उन दोनों के समवेत संतुलन पर ही वह संस्कृति पैदा हो सकती है, जो कि ध्रुवीय (ढवसंत) नहीं होगी और एकांगी भी

नहीं होगी--जो कि विरोधी ध्रुवों के तनाव का उपयोग करेगी, वैसे ही जैसे कि स्थापत्य-कला अर्धवर्तुल द्वार के निर्माण में विरोधी ईंटों का करती है।
जीवन का सत्य अनेकांत है।
और, जीवन की धारा सदा विरोधी ध्रुवों को तट मान कर बहती है।

रजनीश के प्रणाम
22-12-1970
(प्रतिः श्री रामकिशोर शर्मा, चिड़ावा, राज.)

70/ बहुत देखे सपने--अब तो जाग

प्यारी राधा,
प्रेम।
निकटता और दूरी सब स्वप्न है।
सत्य तो है एकता।
इसीलिए तो निकट से निकट होकर भी निकट कहां हो पाते हैं?
और दूर से दूर होकर भी दूर कहां हो पाते हैं?
स्वप्न में सब होता है और फिर भी नहीं होता है, इसीलिए तो स्वप्न है।
स्वप्न (क्तमंउपदह) को तोड़ अब।
बहुत देखे हैं स्वप्न।
जन्मों-जन्मों में।
अब जाग।
सुख भी देखे--दुख भी देखे।
जन्म भी पाए--मृत्युएं भी।
लेकिन, अब जीवन में जाग।
अब आनंद में प्रतिष्ठित हो।
निकटता छोड़--दूरी छोड़।
अब तो एकता (न्नदपजल) खोज।

रजनीश के प्रणाम
25-12-1970
(प्रतिः सुश्री राधा बहन, जकार्ता, इंडोनेशिया)

71/ स्वयं में ठहरते ही विश्राम है, शांति है

प्रिय योग शांति,
प्रेम।
यह जानकर आनंदित हूं कि तू आनंदित है।
आनंद स्वभाव है।
इसलिए, उसकी अभीप्सा है।
दुख विभाव है।
वह स्वयं से विच्युति है।
इसलिए ही, उससे मुक्ति की चेष्टा है।
जो हम नहीं हैं, वह होने में ही पीड़ा है।
जो हम हैं, वह न होने में ही तनाव है।
स्वयं में होते ही स्वास्थ्य है।
स्वयं में ठहरते ही विश्राम है।
स्वयं में आते ही शांति है।
परिधि पर भटकाव है।
केंद्र पर ठहराव है।

उस ठहराव की ही पहली झलक तुझे मिली है।
केंद्र की ही पहली किरण तुझ पर उतरी है।
अब और गहरे में उतरना है।
क्योंकि, जब स्व का केंद्र भी खो जाता है, तभी स्वयं की पूर्ण गहराई उपलब्ध होती है।

रजनीश के प्रणाम
26-12-1970
(प्रतिः मा योग शांति, आजोल, गुजरात)

72/ धर्म और संप्रदाय के अंतर्विरोध का रहस्य

प्रिय विमल,
प्रेम।
जीने के लिए आज काफी है।
कल क्या होगा--यह चिंता सिर्फ आज को नष्ट करती है।
संप्रदाय बनेंगे, तो तोड़ने वाले भी पैदा होते रहेंगे।
क्या मेरे जैसे तोड़ने वालों को काम बिल्कुल ही बंद कर देना है!
बनाना भी पड़ता है और तोड़ना भी पड़ता है।
तोड़ना भी पड़ता है और बनाना भी पड़ता है।
और, जो दोनों को एक ही सिक्के के दो पहलू की भांति देख पाते हैं, वे दोनों से ही मुक्त हो जाते हैं। और, धर्म को, सत्य को, अस्तित्व को जानने के लिए समस्त द्वैतों का अतिक्रमण आवश्यक है।
रूढ़ि--मृत सत्यों का नाम है। लेकिन, जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु भी है।
इस डर से कि कल कब्र बनानी होगी, जन्म देना तो बंद नहीं किया जा सकता है?
और, न ही मृत शवों को जीवित ही माना जा सकता है, क्योंकि वे कभी जीवित थे।
जन्म भी होगा और मृत्यु भी होगी।
धर्म जन्मता है और फिर मर कर संप्रदाय भी बनता है।
संप्रदायों को मरघट भी पहुंचाना होता है।
और, फिर धर्म जन्मता है और फिर संप्रदाय बनता है।
जो धर्म के लिए संप्रदायों से लड़ते हैं, वे ही अंततः नये संप्रदायों
के जनक हो जाते हैं।
और फिर, जिन्हें धर्म की अवतारणा करनी है, उन्हें अतीत के स्वजातीय व्यक्तियों से ही लड़ने का नाटक करना होता है!
उपनिषद वेद से लड़ने का नाटक करते हैं।
इसीलिए, उनका नाम हैः वेदांत अर्थात वेद का अंत करनेवाला!
कैसा मजा है!
वेद को ही वे पुनर्प्रतिष्ठित करते हैं और वेद से ही लड़ते हैं!
बुद्ध उपनिषदों से लड़ते हैं! और, बुद्ध से बड़ा वेदांती नहीं हुआ है। और, शंकर बुद्ध से लड़ते हैं; और शंकर से बड़ा बौद्ध कौन है?

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः सुश्री विमला मेहता, नई दिल्ली)

73/ प्रेम असुरक्षा में छलांग है

मेरे प्रिय,

प्रेम।
प्रेम है, तो प्रश्न नहीं है।
क्योंकि, प्रेम सदा ही सब-कुछ खोने को तैयार होता है।
लेकिन, यदि प्रेम नहीं है, तो फिर प्रश्न ही प्रश्न हैं।
ऐसा हो तो ही सांत्वनादि की आवश्यकता है।
प्रेम तो है पागल।
या कहेंः है अंधा।
लेकिन, प्रेमरिक्त समझदारी से प्रेम का पागलपन अनंतगुना शुभ है।
और प्रेमरिक्त आंखों से प्रेम का अंधापन अनंतगुना वरणीय है।
लेकिन, वह है, तो है और नहीं है, तो नहीं है।
उस संबंध में स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि वैसा पागलपन--वैसा अंधापन है
या नहीं है। क्योंकि, प्रेम न हो और सिर्फ पागलपन हो या प्रेम न हो और सिर्फ अंधापन हो, तो समाज की बात ध्यानपूर्वक सुननी चाहिए; क्योंकि फिर अंततः समाज ही सही सिद्ध होता है।
और, ध्यान रहे कि प्रेम इतने सोच-विचार में नहीं पड़ता है।
प्रेम है कुछ, तो जोखिम है।
वह अज्ञात के हाथों में स्वयं को समर्पित करना है।
प्रेम असुरक्षा (टदेमबनतपजल) में छलांग है।
समाज है सुरक्षा की व्यवस्था (एमबनतपजल एलेजमउ)।
इसलिए संघर्ष स्वाभाविक है।
लेकिन, जैसा दिखाई पड़ता है, वैसा संघर्ष स्वयं और समाज के बीच नहीं है।
संघर्ष हैः स्वयं की ही सुरक्षा-असुरक्षा के बीच।
प्रेम है, तो समाज कहां है?
प्रेम नहीं है, तो समाज के अतिरिक्त और क्या है?

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः श्री पी0 गुप्ता, कोटा, राज.)

74/ प्रेम और ध्यान--एक ही सत्य के दो छोर

प्रिय कचु,
प्रेम।
ध्यान का जल सींचते रहो।
संन्यास का फूल तो खिलेगा ही।
लेकिन सतत प्रयास चाहिए।
हृदय की धड़कन-धड़कन में ध्यान का नाद भरना है।
संन्यास सरल है, लेकिन सस्ता नहीं है।
और सरल है, इसीलिए सस्ता नहीं है।
क्योंकि, जीवन में सरलतम को पाना ही कठिनतम है।
मीरा ने कहा हैः "असुंअन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई।" मीरा के लिए प्रेम ही ध्यान है।
तुम्हारे लिए ध्यान ही प्रेम होगा।
ऐसे दोनों ही, एक ही सत्य के दो छोर हैं।

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः श्री बी. वी. तुरखिया, पूना, महाराष्ट्र)

75/ सफलता और असफलता--एक ही सिक्के के दो पहलू

मेरे प्रिय,
प्रेम।
असफलता के प्राण स्वयं में नहीं होते हैं।
इसलिए, असफलता को मार-मार कर भी आदमी असफलता को नहीं मार पाता है।
न तुम ही मार पाओगे।
ऐसी कहानियां तो जरूर पढ़ी होंगी न, जिसमें कोई राक्षस अपने प्राण किसी तोते में या कहीं और रख देता है और फिर, तब तक नहीं मारा जा सकता है, जब तक कि उसके प्राण को सुरक्षित रखने वाला पशु या पक्षी नहीं मारा जाता है।
असफलता भी ऐसे ही सुरक्षित है।
उसके प्राण उसमें स्वयं में नहीं हैं।
उसके प्राण हैंः सफलता की अभीप्सा में।
.इसलिए, जो भी सफलता चाहता है, वह असफलताओं से मुक्त नहीं हो सकता है।
क्योंकि, असफलता से तो केवल वे ही मुक्त होते हैं, जो कि सफलता से ही मुक्त हो जाते हैं।
और, तुमने लिखा है कि असफलताओं के कारण हीन-भाव () बढ़ रहा है।
नहीं बंधु! तुम्हारा विश्लेषण बैलों को गाड़ी के पीछे जोत रहा है।
असफलताओं के कारण हीनता नहीं बढ़ती है; विपरीत, हीनता के कारण ही सफलता चाही जाती है और असफलता बनती है।
लेकिन, हीन क्यों अनुभव करते हो?
प्रत्येक, प्रत्येक है।
अद्वितीय, बेजोड़, अतुलनीय (टदबवउचंतंइसम)।
तुलना ही असंभव है।
पर तुलना सिखाई जाती है।
तुलना (ींवउचंतपेवद) संस्कारित की जाती है।
इस गलत, घातक और अज्ञानपूर्ण संस्कार (ींवदकपजपवदपदह) को समझो।
क्योंकि, गलत को गलत जान लेना ही उससे मुक्त हो जाना है।

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः श्रीयुत आत्म विजय, पटना)

76/ अनेकता में एकता

मेरे प्रिय,
प्रेम।
सागर तो एक ही है।
और इसलिए, अनेक दिखाई पड़ने वाली लहरें भी अनेक नहीं हो सकती हैं।
प्रत्येक लहर में एक ही सागर है।
वही आता है, वही जाता है।
लहरों से तो बस उसके इस आने-जाने की पगध्वनि ही दिखाई पड़ती है।
लहरें नहीं ही हैं।
सागर ही है।
लेकिन, लहरें दिखाई पड़ती हैं और सागर अदृश्य है।
शब्द दिखाई पड़ते हैं, सत्य अदृश्य है।
शरीर दिखाई पड़ते हैं, अस्तित्व अदृश्य है।

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः श्री लाल प्रताप, भुड़हा, अवध)

77/ स्वयं को सम्हालने की पागल-चिंता

मेरे प्रिय,
प्रेम।
सागर सम्हालता है लहरों को।
और, लहरें सदा निश्चिंत हैं।
आकाश सम्हालता है तारों को।
और, तारे सदा आनंदित हैं।
लेकिन, मनुष्य चिंतित होता है।
दुख में डूबता है।
संताप में घिरता है।
क्योंकि, मनुष्य स्वयं को स्वयं ही सम्हालने के पागलपन में पड़ता है।

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः श्री नारायण के. भट्ट, कोठारा, कच्छ)

78/ स्वयं को खो देना ही सब-कुछ पा लेना है

प्यारी रमा,
प्रेम।
स्वयं को खो देना ही सब-कुछ पा लेना है।
लेकिन, वह खोना होना चाहिए समग्र (ैंवजंस)।
क्योंकि, स्व-अंश भी बचा तो पूर्ण ही बच जाता है।
या तो वह होता है शून्य, या होता है पूर्ण।
बीच में कोई मार्ग नहीं है।
स्वयं के लिए कोई मज्झिम निकाय (ऊपककसम रूंल) नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः सुश्री रमा पटेल, अहमदाबाद)

79/ संसार को लीला मात्र जानना संन्यास है

प्यारी हंसा,
प्रेम।
संसार आनंदपूर्ण अभिनय बन जाए, तो संन्यास फलित होता है।
संसार को बोझ रूप ढोना गार्हस्थ्य है।
संसार को लीला मात्र जानना संन्यास है।
संन्यास संसार का विरोध नहीं है। वरन, संसार के प्रति दृष्टि का रूपांतरण है।
और सब कुछ--सुख-दुख, राग-द्वेष, यश-अपयश--सभी कुछ दृष्टि के बदलते ही बदल जाते हैं।
दृष्टि--जीवन को देखने का ढंग ही जीवन का आकार बन जाता है।
संन्यास विवाद भी नहीं है।
मेरे देखे तो संसार को संन्यास की दृष्टि से न देखने से ही विवाद उत्पन्न होता है।
संन्यास तो परम रस है--परम भोग है।
क्योंकि, संन्यास परमात्मा का साझीदार होना है।

लेकिन, बहुत बार कंकड़-पत्थरों का मोह हीरों की खदान तक ही नहीं पहुंचने देता है।
पर, तुझे मैं छोडूंगा नहीं।
हीरों की खदान निकट है और तुझे वहां तक पहुंचना ही है।

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः सुश्री हंसा मणिकांत खोना, बंबई)

80/ शरीर में रस कहां--रस तो है आत्मा में

प्यारे मणिकांत,
प्रेम।
रस का तुम्हें शायद पता ही नहीं है!
लेकिन, प्यास है तो भी पर्याप्त है।
शरीर में रस कहां--सिर्फ रस का प्रतिफलन ही है।
रस तो है आत्मा में।
या कि उचित होगा कि कहें कि आत्मा ही रस है।
उसके रस की अनुगूंज ही शरीर में सुनाई पड़ती है।
अनुगूंज को पकड़ो और मूल स्रोत को खोजो।
अन्यथा, क्रमशः शरीर शिथिल होता है और फिर वह अनुगूंज सुनाई नहीं पड़ती है।
शरीर का यही दुख है।
भोग की यही तो पीड़ा है। इंद्रियों का यही तो संताप है।
इसलिए, समय रहते--शक्ति रहते उसे खोज ही लेना चाहिए, जो कि वास्तविक रस है।
अन्यथा, पीछे पछतावे के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं रह जाता है।
और, "फिर पछताए होत का, जब चिड़ियां चुग गई खेत।"

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः श्री मणिकांत खोना, बंबई)

81/ जो समय पर हो, वही शुभ है

मेरे प्रिय,
प्रेम।
देरी जरा भी नहीं है।
प्रभु के द्वार पर देरी कहां।
लेकिन, प्रतीक्षा आवश्यक है--तुम्हारे ही हित में प्रतीक्षा आवश्यक है।
आनंद भी अनायास झेला नहीं जा सकता है।
और, शक्ति का अनायास अवतरण भी सम्हाला नहीं जा सकता है।
इसलिए, समय चाहिए।
प्रत्येक घटना के लिए समय चाहिए।
बीज टूटने में समय लगता है।
अंकुर फूटने में समय लगता है।
वृक्ष बनने में समय लगता है।
और, फलों के आने में समय लगता है।
फिर, फलों के पकने में भी समय लगता है।

और, जो समय पर हो, वही शुभ है।

रजनीश के प्रणाम
27-12-1970
(प्रतिः श्री आर. एन. ऐरन, अहमदाबाद)

82/ जीएं--आज, और अभी, और यहीं

मेरे प्रिय,
प्रेम।
जीवन को हम जानते ही नहीं हैं; इसीलिए ऊब जाते हैं।
जीवन को बना लेते हैं एक यांत्रिकता, इसलिए ऊब जाते हैं।
जीवन को जीते कहां हैं--बस, ढोते हैं, इसीलिए ऊब जाते हैं।
ऊब (ईवतमकवउ) जीवन में नहीं, वरन हमारे जीने के भय से आती है।
हम मृत्यु से ही नहीं डरते--जीवन से भी डरते हैं!
वस्तुतः तो, मृत्यु से भी इसलिए डरते हैं; क्योंकि जीवन से डरते हैं।
अन्यथा, मृत्यु जीवन का अंत नहीं--जीवन की पूर्णता है।
इसलिए, मैं कहता हूंः जीएं--निर्भय होकर जीएं।
अतीत को विदा करें--भय के कारण ही मनुष्य उसे सम्हाले रहता है।
और, भविष्य के सपनों को आमंत्रित न करें, क्योंकि आज जीने से बचना है, इसलिए मनुष्य भविष्य में जीने की योजना करता है।
जीएं आज, और अभी, और यहीं।
कल धोखा है।
बीता हुआ भी और आने वाला भी।
क्षण ही सत्य है।
और, क्षण ही शाश्वत है।

रजनीश के प्रणाम
28-12-1970
(प्रतिः श्री गिरधर आर. उकाजी, राजकोट, गुजरात)

83/ प्रभु के लिए पागल होना एक कला है

मेरे प्रिय,
प्रेम।
प्रभु के लिए पागल होना एक कला है।
वह विधिपूर्वक पागलपन है।
इसलिए, पागल बनो जरूर--लेकिन विधि न भूलो।
उस विधि को ही मैं ध्यान कहता हूं।
मीरा उसे प्रेम कहती है।
महावीर तप कहते हैं।
नाम दो कुछ भी--लेकिन, उसे भूलो भर मत।
क्योंकि, मन उसे भूलना चाहता है।
वह मन की मृत्यु जो है।
और, पता है कि मन की ध्यान को भूलने की सरलतम--लेकिन सबसे चालाक (ींनददपदह) विधि क्या है?
ध्यान के संबंध में सोचना (ैंव जीपदा:ईठन्नैं उमकपजंजपवद)।
इसलिए, ध्यान रखना कि ध्यान के संबंध में सोचना नहीं है, ध्यान करना है।

रजनीश के प्रणाम
28-12-1970
(प्रतिः श्री पी. ओ. ईंगले, अहमदनगर, महा.)

84/ जीवन-रहस्य जीकर ही जाना जा सकता है

मेरे प्रिय,
प्रेम।
जीवन है रहस्य (ऊलेजतल)।
उसे जीया जा सकता है।
और, जीकर जाना भी जा सकता है।
लेकिन, गणित के सवालों की भांति उसे हल नहीं किया जा सकता है।
वह सवाल नहीं है--वह है एक चुनौती (ींंससमदहम)।
वह प्रश्न नहीं है--वह है एक अभियान (ःकअमदजनतम)।
इसलिए, जो जीवन के संबंध में मात्र प्रश्न ही पूछते रहते हैं, वे उत्तर से सदा के लिए अपने ही हाथों वंचित रह जाते हैं।
या कि ऐसे उत्तर पा लेते हैं, जो कि उत्तर नहीं हैं।
शास्त्रों से ऐसे ही उत्तर मिल जाते हैं।
असल में दूसरे से मिला उत्तर, उत्तर नहीं हो सकता है।
क्योंकि, जीवन-सत्य उधार नहीं मिलता है।
या फिर मात्र प्रश्न पूछने वाले अपने ही उत्तर गढ़ लेते हैं।
ऐसे उन्हें सांत्वना (ींवदेवसंजपवद) तो मिल जाती है, लेकिन समाधान नहीं मिलता है।
क्योंकि, गढ़े हुए उत्तर उत्तर ही नहीं हैं।
उत्तर तो केवल जाने हुए उत्तर ही हो सकते हैं।
इसलिए कहता हूंः पूछो नहीं--जीयो और जानो।
दर्शन (ढीपसवेवचील) और धर्म (त्तमसपहपवद) का यही भेद है।
दर्शन पूछना है और धर्म जीना है।
और, मजा तो यह है कि दर्शन पूछता जरूर है, लेकिन उत्तर कभी नहीं पाता
है और धर्म पूछता बिल्कुल नहीं है और फिर भी उत्तर पा लेता है।

रजनीश के प्रणाम
28-12-1970
(प्रतिः श्री हरीश के. राज, लुधियाना, पंजाब)

85/ प्रभु-प्रेम की धुन हृदय-हृदय में गुंजा देनी है

प्यारी मीरा,
प्रेम।
प्रभु-प्रेम की धुन हृदय-हृदय में गुंजा देनी है।
मनुष्य का हृदय-मंदिर रिक्त और सूना होकर पड़ा है।
तर्क की राख के अतिरिक्त वहां और कुछ भी नहीं है।
और, हृदय कोई ऐशट्रे तो है नहीं कि इस राख से प्रफुल्लित हो उठे।
हृदय को चाहिए फूल--प्रेम के--प्रार्थना के--परमात्मा के।
हृदय को चाहिए संगीत--आत्मा का--अदृश्य का--अमृत्व का।
हृदय को चाहिए सोम--आलोक का--आनंद का--अनुग्रह का।
जा--प्यासों के पास।
गा--और उनके हृदयों पर प्रभु-प्रार्थना की वर्षा कर।
नाच--और उन्हें भी उस नृत्य में निमंत्रित कर ले।
स्वयं में मीरा को पुनर्जन्म दे।

वही है तेरी नियति।
उसी के लिए तुझे मैंने पुकारा है।
डा. को प्रेम।

रजनीश के प्रणाम
28-12-1970
(प्रतिः मा योग मीरा, जूनागढ़, गुजरात)

86/ आता रहूंगा--तुम्हारी नींद जो तोड़नी है

मेरे प्रिय,
प्रेम।
आऊंगा--नींद में भी आऊंगा।
क्योंकि, तुम्हारी नींद जो तोड़नी है।
स्वप्न में भी प्रवेश करूंगा, क्योंकि तुम्हें स्वप्नों से मुक्त जो करना है।
वैसे--जिसे तुम जागना कहते हो, क्या वह जागना है?
या कि नींद का ही एक और रूप मात्र?
आंखें खुली होने से ही तो जागना नहीं होता है?
काश! जागना इतनी सरल बात होती!
और, आंखें खुली होने से ही स्वप्न बंद नहीं होते हैं?
साधारणतः तो हमारा जागना जागने का भ्रम मात्र ही है।
और, हमारी तथाकथित विचारणा स्वप्नों का शब्दों में अनुवाद है।
लेकिन, नींद को पहचानो, तो नींद टूटनी शुरू हो जाती है।
और, स्वप्नों के प्रति सजग बनो, तो स्वप्न तिरोहित होने लगते हैं।
और, जहां स्वप्न नहीं है--जहां निद्रा नहीं है, वहीं माया नहीं है।
और, जहां माया नहीं है, वहीं वह है--जिसकी कि खोज है।

रजनीश के प्रणाम
28-12-1970
(प्रतिः श्री सरदारीलाल सहगल, अमृतसर, पंजाब)

87/ विचार नहीं--ध्यान है द्वार

मेरे प्रिय,
प्रेम।
तत्व-चिंतन (ढीपसवेवचील) में समय न गंवाओ।
अस्तित्व की गहराइयों में है समाधान।
और, विचार की तरंगें सतह से गहरी नहीं जाती हैं।
हीरे हैं सागर की गहराइयों में, और इसलिए, जो उन्हें लहरों के झाग में खोजता है, वह व्यर्थ ही खोजता है।
दर्शन-शास्त्र विचार की लहरों पर उठे झाग से ज्यादा नहीं है।
माना कि कभी सूर्य की किरणों में चमकता सफेद झाग भी बहुत सुंदर मालूम होता है; लेकिन फिर भी वह झाग ही है और मुट्ठी में लेते ही खो जाता है।
इसलिए कहता हूंः विचार नहीं--ध्यान है द्वार।
शब्द नहीं--शून्य है द्वार।
अस्तित्व क्यों है, यह मत पूछो।
अस्तित्व क्या है, यह खोजो।

रजनीश के प्रणाम

28-12-1970
(प्रतिः श्री दिनेश आर . शाह , मिया गांव , गुजरात)

88/ जन्मों जन्मों की खोज

प्रिय भानु ,
प्रेम।
जन्मों -जन्मों की खोज के बाद प्रभु -मंदिर का मार्ग मिलता है।
लेकिन , अनेक बार मार्ग पाकर भी हम उसे खो देते हैं।
आज तू उसी मार्ग के द्वार पर आकर खड़ी हो गई है।
अब भटक मत जाना।
संकल्प कर और आगे बढ़।
अनेक प्रलोभन रोकेंगे।
अनेक संस्कार रोकेंगे।
आलस्य रोकेगा।
मन, और विकल्प सुझाएगा।
इन सबसे सावधान रहना।
क्योंकि , जिस द्वार को जन्मों में पाया , उसे क्षण में खोया जा सकता है।
अज्ञात का भय घेरेगा।
अनजान में उतरते असुरक्षा मालूम होगी।
लेकिन , साहस कर और अपरिचित को आलिंगन कर।
क्योंकि , यह अपरिचित ही --यह अज्ञात ही उसका द्वार है।

रजनीश के प्रणाम
28-12-1970
(प्रतिः सुश्री भानुमति पी . कटारिया , बंबई)

89/ प्रेम के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है

प्रिय शिव ,
प्रेम।
प्रेम सदा ही अकारण है।
और इसलिए, जिस प्रेम में कारण होता है , वह प्रेम नहीं रह जाता है।
प्रेम सौदा नहीं है।
वह लेन -देन के व्यवसाय -जगत के बाहर है।
और, यही उसका सौंदर्य है।
इस पार्थिव पृथ्वी पर प्रेम अपार्थिव की किरण है।
इसलिए , प्रेम के सहारे प्रार्थना तक पहुंचा जा सकता है।
और, प्रार्थना के सहारे प्रभु तक।
इसीलिए , मैं कहता हूं कि प्रेम के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
28-12-1970
(प्रतिः स्वामी अगेह भारती , जबलपुर , म. प्र .)

90/ चेतना चाहिए --खुली , उन्मुक्त , प्रतिपल नवीन

मेरे प्रिय ,

प्रेम।
सिद्धांतों का अंततः मूल्य नहीं है।
मूल्य है--अनुभूतियों का।
और, अकसर ही सिद्धांत अनुभूति-प्रवेश में बाधा बन जाते हैं।
क्योंकि, सिद्धांत मात्र चेतना को बंद करते हैं।
और, चेतना चाहिए खुली--उनमुक्त--नये के लिए उन्मुख।
चेतना चाहिए अज्ञात का स्वागत करती--अनजान, अपरिचित सत्य के आलिंगन
को तत्पर।
और, यह जान कर आनंदित हूं कि ऐसी चेतना आपके पास है।
यह बड़ी संपदा है और सत्य के खोजी के लिए अनिवार्य पाथेय है।
सत्य वाद में न है--न हो सकता है।
सत्य और शास्त्र का कभी मिलन ही नहीं हो पाता है।
वाद होते हैं--अति सांकरे।
शास्त्र होते हैं--अति सीमित।
और, शब्दों में सत्य के लिए स्थान (एचंबम) ही कहां है?

रजनीश के प्रणाम
29-12-1970
(प्रतिः श्री एम. डी. शाह, बंबई)

91/ फूटा बबूला (ईनइइसम) अहंकार का

मेरे प्रिय,
प्रेम।
न जन्म है, न मृत्यु है।
बस, जीवन है।
अनादि, अनंत।
वह जन्म के पूर्व भी है।
अन्यथा, जन्मता कौन?
वह मृत्यु के बाद भी है।
अन्यथा, मरता कौन?
जन्म जीवन का आरंभ नहीं है।
मृत्यु जीवन का अंत नहीं है।
जन्म और मृत्यु जीवन में घटी घटनाएं हैं।
जैसे, पानी का बबूला नदी में बनता और मिटता है।
ऐसे ही, व्यक्ति का बबूला जीवन में बनता और मिटता है।
इस बबूले का नाम ही अहंकार है।
निश्चय ही, इसका जन्म भी है और इसकी मृत्यु भी है।
जन्म और मृत्यु के बीच में जो घटता है, उसका ही नाम अहंकार है।
इसलिए ही, जो अंहकार (द्महव) में है, वह जीवन से अपरिचित ही रह जाता है।
जीवन को जानना है, तो अंहकार से जागना होता है।
बबूला भूल ही जाता है कि वह नहीं है, बस सरिता ही है।

रजनीश के प्रणाम
29-12-1970
(प्रतिः श्री एन. सी. जैन, पृथ्वीपुर, म. प्र.)

92/ पूर्ति--आत्मक पुकार की

मेरे प्रिय,

प्रेम।
जब भी जरूरत हो, मुझे पुकारना--मैं आ जाऊंगा।
अब शरीर का ही संबंध नहीं--आत्मा का सीधा संबंध भी स्थापित हो गया है।
प्रारंभ स्वप्न से होगा और फिर खुली आंखों और जागते हुए भी दिखाई पड़ने लगूंगा।
लेकिन, अकारण मत पुकारना।
न ही मात्र कुतूहलवश पुकारना।
न ही भौतिक कारणों के लिए पुकारना।
जहां सुई से काम हो सके, वहां तलवार नहीं उठानी चाहिए न?

रजनीश के प्रणाम
29-12-1970
(प्रतिः श्री दत्ताराम भाटिया, बंबई)

93/ सत्य है समझ के पार

प्रिय शिव,
प्रेम।
जो समझ में आ जाए, वह प्रेम नहीं है।
फिर, समझ सब-कुछ तो नहीं है
समझ के बाहर भी बहुत-कुछ है।
और, जो समझ के बाहर है, वही गहरा भी है।
समझ है सतह।
समझ सदा ही ऊपर-ऊपर है।
और इसलिए, जो समझ पर ही रुक जाते हैं, उनसे ज्यादा नासमझ और कोई भी नहीं है।
लहरें समझी जा सकती हैं।
सागर अबूझ है।
इसलिए, समझो जरूर--लेकिन समझ को स्वयं की सीमा न समझो।
उसके पार भी झांकते रहो।
उसका अतिक्रमण भी करते रहो।
समझ का उल्लंघन ही अंततः सत्य की समझ बनता है।

रजनीश के प्रणाम
29-12-1970
(प्रतिः स्वामी अगेह भारती, जबलपुर, म. प्र.)

94/ प्रभु-समर्पित कर्म अकर्म है

प्रिय योग सिद्धि,
प्रेम।
एक बार स्वयं को परमात्मा के हाथ में छोड़ते ही कुछ भी करने को शेष नहीं रह जाता है।
फिर तो, सब जैसे स्वयं ही होने लगता है।
आनंदित हो कि तेरे जीवन में अब उसी का प्रारंभ है।
तैरना छूटा और बहना शुरू हुआ है।
मैं इसी भाव-दशा को संन्यास कहता हूं।
सरिता स्वयं ही सागर में लिए जाती है--फिर तैरना किसलिए? प्रयत्न किसलिए--प्रयास किसलिए?
अप्रयास (द्मिवितजसमे) में ही प्रसाद (फतंबम) है।

लेकिन, इसका अर्थ निष्क्रियता नहीं है।
बहना भी सक्रियता है।
लेकिन, उसमें कर्ता की अनुपस्थिति है।
कर्म है और कर्ता नहीं है, तो अकर्म है।
और, कर्म नहीं है और कर्ता है, तो भी अकर्म नहीं है।
प्रभु-समर्पित कर्म अकर्म है।

रजनीश के प्रणाम
29-12-1970
(प्रतिः मा योग सिद्धि, अहमदाबाद, गुजरात)

95/ अहंकार निर्बलता है, आत्मा बल है

मेरे प्रिय,
स्वयं ही स्वयं का आत्मबल नहीं बढ़ाया जा सकता है।
वह तो वैसे ही है, जैसे कि कोई अपने ही जूतों के फीतों को पकड़ कर स्वयं
को ऊपर उठाना चाहे!
आत्म-बल बढ़ता हैः प्रभु के प्रति समर्पण से।
समर्पण के अतिरिक्त शक्त का और कोई द्वार नहीं है।
मिटने के अतिरिक्त पाने की और कोई विधि नहीं है।
बीज मिट कर वृक्ष होता है।
अहं की मृत्यु से आत्मा प्रकटती है।
और, अहंकार निर्बलता है; आत्मा बल है।
आत्म-बल शब्द ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा ही बल है।

रजनीश के प्रणाम
30-12-1970
(प्रतिः श्री मांगीलाल भटनागर, पीपल्या, राजस्थान)

96/ जीने के लिए आज पर्याप्त

मेरे प्रिय,
प्रेम।
उद्देश्य से जीने वाला सदा ही भटक जाता है।
और, उद्देश्य से जीने वाले का जीवन बोझ भी बन जाता है।
क्योंकि, उद्देश्य है कल और जीना है आज।
व्यर्थ के तनाव न पालो।
व्यर्थ के विवाद न सींचो।
भविष्य से वर्तमान न निकालो।
क्योंकि, वह संभव ही नहीं है।
वर्तमान से ही भविष्य को निकलने दो।
सहज ही वह चला आता है।
उसके लिए तुम्हें कुछ भी नहीं करना है।
तुम तो जीयो--आज।
जीने के लिए आज पर्याप्त है।
गाया हैः ट कव दवज सवदह वित जीम कपेजंदज ेबमदम ठदम ेजमच पे द्मछठन्नफभ वित उम (दूर के दृश्य की आकांक्षा नहीं मुझे, और बस एक ही कदम काफी है)।
हां--मरने के लिए जरूर आज पर्याप्त नहीं है!
मृत्यु के लिए कल जरूरी है!

इसलिए, जो कल (ैंवउवततवू) में जीते हैं, वे जीते नहीं, बस, मरते ही हैं।
जीयो आज--अभी--पूर्णता से--समग्रता से।
कल स्वयं ही अपनी चिंता कर लेगा।

रजनीश के प्रणाम
30-12-1970
(प्रतिः श्री राजेन्द्र सिंह, झिरिया, म. प्र.)

97/ तैयार होकर आ

प्यारी रोशन,
प्रेम।
दिखाई पड़ने वाली आंखों के अलावा और भी आंखें हैं।
उन्हीं से मैंने तुम्हें देखा।
और, दिखाई पड़ने वाले कानों के अलावा और भी कान हैं, उन्हीं से मैंने तुझे सुना।
शरीर से नहीं, पर हृदय से तुझे स्पर्श किया है।
ध्यान में उतरेगी, तो यह सब तेरी समझ में भी आ सकेगा।
इंद्रियों के पार भी अस्तित्व है--विराट, अनादि और अनंत। उस सबका ही इकट्ठा नाम परमात्मा है।
उस परमात्मा की यात्रा पर ही तुझे ले चलना है।
तैयार होकर आ।
क्योंकि, मेरे पास आने का और तो कोई भी अर्थ नहीं है न?

रजनीश के प्रणाम
30-12-1970
(प्रतिः कुमारी रोशन जाल, उदयपुर, राज.)

98/ मार्ग के पत्थरों को सीढ़ियां बना

प्यारी पुष्पा,
प्रेम।
आगे बढ़ो--भय न करो!
मैं साथ हूं।
परमात्मा साथ है।
फिर, निष्पाप तेरा चित्त है।
और, ध्यान-विस्फोट का क्षण भी निकट है।
भीतर जो कुछ भी हो रहा है--वह सब उसी क्षण की पूर्व तैयारी है।
बाधाएं जो प्रतीत होती हैं, वे बाधाएं नहीं हैं।
वे परीक्षाएं हैं।
मार्ग पर जो पत्थर मिलते हैं, वे शत्रु नहीं, मित्र हैं।
उन्हीं को सीढ़ियां बनाना है।
वे सीढ़ियां बनने के लिए ही, मार्ग पर हैं।
फिर, जरूरत होगी तो मैं धक्का भी दूंगा!
लेकिन, वह तू मुझ पर छोड़।
उसकी चिंता तुझे नहीं लेनी है।

रजनीश के प्रणाम
30-12-1970
(प्रतिः सुश्री पुष्पा, जालंधर शहर, पंजाब)

99/ व्यक्त -चित्त के आमूल रूपांतरण से ही समाज में शांति

मेरे प्रिय ,
प्रेम।
समाज केवल जोड़ है।
व्यक्तियों का।
इसलिए , अंततः और मूलतः वह व्यक्तियों के चित्तों का ही प्रतिफल है।
व्यक्ति -चित्त अशांत है , तो समाज शांत नहीं हो सकता है।
व्यक्ति -चित्त (टदकपअपकनंस(ऊपदक) का आमूल रूपांतरण (ऊनजंजपवद) ही समाज की शांति बन सकती है।
और कोई विकल्प नहीं है।
और, न ही कोई शार्टकट (निकट का रास्ता) ही है।
व्यक्ति -रूपांतरण की विधि ध्यान है।
अधिक से अधिक व्यक्ति ध्यान में उतरें , तो ही कुछ हो सकता है।
क्योंकि , अधिक से अधिक व्यक्ति आनंद में प्रवेश करें , तो ही कुछ हो सकता है।
प्रभु -शरण ही उपाय है।

रजनीश के प्रणाम
30-12-1970
(प्रतिः श्री एल 0 एच 0 वैद्य , जूनागढ़ , गुजरात)

100/ एक मात्र उत्तर --हंसना और चुप रह जाना

मेरे प्रिय ,
प्रेम।
मुझे सबकी याद रहती है --आती नहीं।
न रहे , तब ही याद को आना पड़ता है।
आने में पीड़ा है।
क्योंकि , आने में जाना भी छिपा है।
रहने में आनंद है।
क्योंकि , फिर न आना है , न जाना है।
शायद , यह बात समझ में भी न आए।
मुझे भी कोई समझाता तो समझ में न आती।
बहुत कुछ है , जो कि समझने से समझ में आता ही नहीं है।
उल्टे और भी उलझ जाता है।
लेकिन , जैसा है , वैसा मैं कह रहा हूं।
किसी को भी कभी याद नहीं करता हूं ; फिर भी याद बनी रहती है।
हृदय की धड़कनों की भांति।
जानूं या न जानूं , हृदय तो धड़कता ही रहता है।
या श्वासों की भांति।
लूं या न लूं , श्वासें तो चलती ही रहती हैं।
बस, ऐसी ही मेरी याद है।
इसलिए जब कोई पूछता हैः "कभी मुझे याद करते हैं या नहीं ?"
तब मैं मुश्किल में पड़ जाता हूं।
सोचता हूं कि क्या कहूं ?
हां भी ठीक नहीं है।
ना भी ठीक नहीं है।
इसलिए हंसता हूं और चुप रह जाता हूं।

लेकिन, तुमने तो लिख कर पूछा है।
इसलिए, हंसने और चुप रह जाने का भी उपाय नहीं छोड़ा है।

रजनीश के प्रणाम
30-12-1970
(प्रतिः स्वामी अगेह भारती, जबलपुर, म. प्र.)

101/ उठो अब--और चलो

मेरे प्रिय,
प्रेम।
वर्ष बीत गया, तब कहीं तुम पत्र लिखने का साहस जुटा पाए हो? स्वप्नों में तुम्हें पुकारा था।
सुना तो तुमने, लेकिन अब तक समझ नहीं पाए क्या?
जागने के लिए ही तो पुकारा है।
नींद तोड़ने के लिए ही तो आवाज दी है।
उठो अब और चलो।
न चलो, तो मंजिल बहुत दूर है--चलो तो बहुत निकट।
निकट भी नहीं--क्योंकि, निकटता भी तो दूरी (क्पेजंदबम) है।
वस्तुतः तो, तुम ही मंजिल हो।
चलो और स्वयं को पा लो।

रजनीश के प्रणाम
1-1-1971
(प्रतिः श्रीयुत पृथ्वीश जाडेजा, राजकोट, सौराष्ट्र)

102/ समय चूका कि सब चूका

मेरे प्रिय,
प्रेम।
बगदाद का एक नाई बड़ी मुश्किल में पड़ा था।
जो भी व्यक्ति उसके नाई-बाड़े में आता, वही उस सुंदर राजकुमारी की चर्चा करता, जो कि किसी जादूगर ने किसी दुर्ग में बंद कर रखी थी।
वह यह भी सुनता कि जो भी व्यक्ति उसे छुड़ाने में सफल होगा, वह सुंदरी
तो उसे मिलेगी ही, साथ ही उसका पूरा राज्य भी उसे मिलेगा।
लेकिन, उस सुंदरी को कैद से छुड़ाना अति दुरूह था।
दुर्ग एक घने जंगल में था और जंगल के खतरनाक जानवर सौ में से निन्यानबे मुक्तिदाताओं का भोजन कर लेते थे।
फिर, दुर्ग एक पर्वत पर था और जो व्यक्ति जानवरों से बच जाते, उनमें सौ में से निन्यानबे राक्षसों द्वारा सरकाई गई चट्टानों में दब कर मर जाते थे।
फिर, जो व्यक्ति इन राक्षसों से भी बच जाते, वे जब दुर्ग-द्वार में प्रवेश करते, तो अचानक आग भड़क उठती और उसमें जल कर राख हो जाते थे।
कुछ भाग्यशालियों ने जंगल पार किया था।
उनमें से कुछ ने राक्षसों को भी पार किया था।
लेकिन, अब तक कोई द्वार के भीतर प्रवेश नहीं कर पाया था।
आखिर, नाई को और सहना कठिन हो गया।
मनुष्य के धैर्य की भी तो सीमा है न?
उसने अपना सब-कुछ बेच दिया और सुंदरी की खोज में निकल पड़ा।
लेकिन, आश्चर्य कि जंगल के जानवर उसे न मिले!

उसने भगवान को धन्यवाद दिया और आगे बढ़ा।
लेकिन, आश्चर्य कि चट्टानों को गिराने वाले राक्षस कहीं भी न थे!
आशा और अभीप्सा से वह तेजी से द्वार की ओर दौड़ने लगा!
और, फिर वह द्वार भी पार कर गया!
लेकिन, आश्चर्य कि द्वार की आग भी न भड़की!
वह प्रभु के अनुग्रह के प्रति झुक-झुक कर आभार प्रकट करने लगा।
उसके सामने ही वह सिंहासन था--सिंहासन पर वह राजकुमारी थी, जिसकी कि उसने बचपन से कहानियां सुनी थीं।
वह डरता हुआ आगे बढ़ा--लेकिन दुर्ग किसी की हंसी से गूंजने लगा और आवाज
आई कि अब डरो मत--क्योंकि, अब पाने को ही क्या है?
वह सिंहासन के सामने पहुंच गया--लेकिन वहां कोई सुंदरी युवती नहीं थी।
सिंहासन पर एक बूढ़ी औरत थी और वह भी मृत।
असल में वह यह भूल गया था कि कम से कम साठ वर्षों से तो वह स्वयं ही इस कहानी को सुन रहा था।

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः स्वामी कृष्ण चैतन्य, संस्कार तीर्थ, आजोल)

103/ होश (ःूंतमदमे) ही ध्यान है

मेरे प्रिय,
प्रेम।
आत्मा या परमात्मा या अनात्मा--जैन, हिंदू या बौद्ध--सभी शब्द अंश-सत्य को प्रकट करते हैं।
और, पूर्ण सत्य अभिव्यक्त नहीं होता है।
क्योंकि शब्द उसके लिए अति छोटे और संकरे हैं।
इसलिए, शब्दों में न उलझें और जो भी ठीक लगे--रुचि-अनुकूल हो, उसे चुन लें।
और कोई भी शब्द न चुनें, तब भी साधना में कोई बाधा नहीं पड़ती है।
वस्तुतः तो, बाधा शब्दों के आग्रह से ही पड़ती है।
यहूदियों का जो परमात्मा के लिए शब्द है, वह है याहवेह (द्दींअमी) या यहोबा (द्दींवइं) और उसका अर्थ होता है अनाम (छव दंउम वत छंउमसमे)।
सिद्धांतों, शास्त्रों और वादों से सत्य की खोज का दूर का भी संबंध नहीं है।
इसलिए, शास्त्रों से बचें तो अच्छा है।
अन्यथा, साधना से बच जाएंगे।
साधना करें--साक्षी-भाव की।
विचार हों या भाव, क्रियाएं हों या प्रतिक्रियाएं--सबके प्रति साक्षी (रूपजदमे) हों।
जीवन-धारा बेहोश (न्नदबवदेबपवने) न रहे।
होश (ःूंतमदमे) का ही ध्यान करें।
होश ही ध्यान है।
और, शेष प्रभु पर छोड़ दें या याहवेह पर--जिसका कि कोई भी नाम नहीं है।
शेष एक प्रश्न का उत्तर नही दूंगा--क्योंकि वह साधना के लिए व्यर्थ है। यह नहीं कि वह प्रश्न ठीक नहीं है--न ही यह कि उसका उत्तर नहीं है। वरन इसीलिए कि वह सत्य के साधक के लिए असंगत (टततमसमअंदज) है।

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः श्री शशिवदन बी. देलीवाला, राजकोट, सौराष्ट्र)

104/ स्वयं में खाली जगह बनाओ

मेरे प्रिय ,
प्रेम।
सत्य को जरूर खोजो। लेकिन सत्य को खोज वही पाता है , जो खोजते -खोजते स्वयं खो जाता है।
"स्व " का पूर्णतया खो जाना ही सत्य का पूर्णतया आ जाना है।
सत्य के आगमन के लिए आंतरिक अवकाश (टददमत एचंबम) चाहिए न ?
स्वयं में जगह बनाओ।
स्वयं को स्वयं से भरा रखा , तो सत्य आएगा कहां ?
रिक्त बनो।
शून्य बनो।
और फिर, सत्य का सागर उस शून्य को सहज ही भर देता है।
कबीर ने गाया हैः "हेरत हेरत हे सखी , रह्या कबीर हेराई। "
इसलिए , मैं कहता हूंः "जिन्होंने स्वयं को खोया , उन्होंने ही सत्य को पाया। "

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः श्री जनकराय शंकरलाल व्यास , ध्रोल , गुजरात)

105/ पुरानों को दफनाओ और नयों को जन्माते रहो

मेरे प्रिय ,
प्रेम।
जीवन है अतर्क्य।
इसलिए , तर्क की पकड़ में मरे हुए के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं आता है।
जीवन है रहस्य।
इसलिए , विचार की सब सीमाओं का उल्लंघन करके ही वह रहता है।
फिर , जीवन ध्रुवीय (ढवसंत) भी है।
जो भी जन्मता है , वह मरता भी है।
और इसीलिए , जिसे मरने से बचना है , उसे जन्मना ही असंभव है।
धर्म पैदा होते हैं और मरते भी हैं।
संस्थाएं जन्मती हैं और सड़ती भी हैं।
लेकिन , यही है नियति --समय और क्षेत्र में प्रत्येक वस्तु की यही नियति है।
इसलिए , पुरानों को दफनाओ और नयों को जन्माते रहो।
इसके अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है।
निश्चय ही जो आज नया है , वही कल पुराना हो जाएगा।
तब उसे भी दफना देना है।
बच्चे बूढ़े हो जाते हैं , इसलिए तो उन्हें पैदा होने से रोकना उचित नहीं है।
और, न ही बूढ़ों को दफनाए जाने से बचाना ही उचित है , क्योंकि वे कभी बच्चे थे !

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः श्री लहर सिंह भाटी , रतलाम , म. प्र .)

106/ प्यास को जगा

प्यारी कमल,
प्रेम।
जिसकी खोज है, वह जरूर ही मिलता है।
सरिता सागर को खोज लेती है।
प्यास सरोवर को खोज लेती है।
प्रार्थना प्रभु को खोज लेती है।
प्रभु तो निकट ही है, बस, हम ही प्यासे नहीं हैं।
प्यास को जगा।
बस, प्यास हो जा।
और फिर, उसके मिलने में क्षण भर की भी देर नहीं होती है।

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः श्रीमती कमला लखमीचंद, बंगलोर)

107/ प्रश्न अंधकार का नहीं--स्वयं के सोए होने का है मेरे प्रिय,
प्रेम।
अंधकार दिखता है न।
उसे ही उसकी समग्रता में देखो।
उससे भागना भर नहीं।
उसमें ही जीयो और उसमें ही जागो।
भागे कि थके।
अंधकार से पलायन--आलोक में नहीं, बस, और गहन अंधकार में ही ले जाता है।
क्योंकि, प्रश्न अंधकार का है ही नहीं।
प्रश्न है--स्वयं के सोए होने का।
इसलिए, जागे कि अंधकार मिटा।
जागना ही आलोक है।
जागो--अंधकार को ही विषय (ठइरमबज) बना लो--और जागो।
अंधकार पर ही ध्यान (ऊमकपजंजपवद) करो--और जागो।

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः स्वामी चैतन्य भारती, दिल्ली)

108/ विस्मरण का विष

प्रिय सावित्री,
प्रेम।
साहस न किया तो वापस आना ही पड़ेगा।
उसमें किंचित भी संदेह नहीं है।
आह! पूर्व में भी तो ऐसा ही हुआ है।
लेकिन, तू भुलाए बैठी है।
विस्मरण कैसा सुखद विष है!

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः डा. सावित्री सी. पटेल, किल्ला पारडी, गुजरात)

109/ स्वयं का रूपांतरण --समाज को बदलने का एकमात्र उपाय

मेरे प्रिय ,
प्रेम।
समाज सीधा नहीं बदला जा सकता है।
क्योंकि , समाज तो निष्प्राण ढांचा है।
या , व्यक्तियों के अंतर्संबंधों का आंककीय (एजंजपेजपबंस) जोड़ है।
बदले तो व्यक्ति (टदकपअपकनंस) ही जा सकते हैं।
क्योंकि , व्यक्तियों के पास ही वह चेतना (ींवदेबपवनेदमे) है , जो कि स्वयं का रूपांतरण कर सकती है।
और, जो रूपांतरण स्वयं से नहीं है , वह रूपांतरण ही नहीं है।
ऊपर से थोपे गए रूपांतरण न टिकते हैं , न टिक ही सकते हैं।
उस तरह की अवैज्ञानिक चेष्टा मनुष्य बहुत कर चुका है और परिणाम में सदा ही विफलता मिली है।
व्यक्ति है मौलिक इकाई।
समस्त श्रम उस पर ही केंद्रित करना है।
और, इसमें एक सुविधा है कि प्रत्येक स्वयं से ही प्रारंभ कर सकता है।
जहां भी दूसरे से प्रारंभ है वही हिंसा है। फिर वह प्रारंभ चाहे कितना ही अहिंसक क्यों न दिखाई पड़ता हो।
इसलिए , मैं सदा कहता हूंः समाज को छोड़ो और स्वयं को पकड़ो।
क्योंकि , समाज को बदलने का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः श्रीयुत ओ . पी . बिल्ला , कपूरथला , पंजाब)

110/ धर्म तो प्रयोग है , अनुभव है --आस्था नहीं , विश्वास नहीं

मेरे प्रिय ,
प्रेम।
अनुभव गहराएंगे।
बस, श्रम करें।
लगन पूर्वक।
संकल्प पूर्वक।
प्रभु की ओर उठाया गया गलत कदम भी व्यर्थ नहीं जाता है !
इसलिए , सही कदम का तो प्रश्न ही नहीं है।
चलें और देखें।
धर्म तो प्रयोग है।
मात्र आस्था नहीं।
धर्म तो अनुभव है।
मात्र विश्वास नहीं।

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः श्री शोरीलाल भंजाना , कल्याण)

111/ ध्यान में मिलन --मुझसे , सबसे , स्वयं से

मेरे प्रिय,
प्रेम।

सागर जैसे सरिता को बुलाता है--ऐसे ही मैंने तुम्हें भी पुकारा है।
यही पुकार तुम्हारे प्राणों में गूंजी है।
और, गूंज सकी, क्योंकि वहां सदा-सदा से उसकी ही प्रतीक्षा थी--प्यास थी।
अब देर न करो।
ऐसे भी तो बहुत देर हो चुकी है!
ध्यान में उतरो।
क्योंकि, वहीं और केवल वहीं मुझसे मिलन हो सकता है।
और, मुझसे ही नहीं--सबसे भी।
और, सबसे ही नहीं--स्वयं से भी।

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः वीनस स्टुडियो, डलहौजी)

112/ प्रेम में, प्रार्थना में, प्रभु में डूबना ही मुक्ति है

प्यारी भानु,
प्रेम।
प्रेम में डूबना ही पड़ता है।
क्योंकि, जो डूबते हैं वहां, वे ही उबरते हैं।
प्रेम में, प्रार्थना में, प्रभु में डूबना ही किनारा है।
ऐसा समझ कि बचे कि डूबे और डूबे कि बचे।
वैसे तब तक समझ में भी कैसे आएगा, जब तक कि डूबेगी ही नहीं!

रजनीश के प्रणाम
2-1-1971
(प्रतिः सुश्री भानुमति पी. कटारिया, बंबई)

113/ प्राणों का पंछी--अज्ञात की यात्रा पर

प्यारी रमा,
प्रेम।
तेरा दूसरा पत्र।
प्रेम में--प्रार्थना में पगली ऐसा ही होता है।
प्राणों का पक्षी अज्ञात की यात्रा पर निकल जाता है।
और, वही यात्रा तो करने योग्य है।
शेष सब भटकाव है।
लेकिन, भटकाव में सुरक्षा (एमबनतपजल) है।
क्योंकि, वह जाने-माने रास्तों पर जो है।
अज्ञात में है जोखिम।
अज्ञात में है असुरक्षा।
आह! लेकिन अज्ञात (न्नदादवूद) में ही है जीवन।
कब्र तो सदा ही खतरों के बाहर है!
इसीलिए तो, हम सब जीने के पहले ही मर जाते हैं।

रजनीश के प्रणाम

2-1-1971
(प्रतिः सुश्री रमा पटेल, अहमदाबाद)

114/ क्षण में ही जीएं

मेरे प्रिय,
प्रेम।
कल की न सोचें।
भविष्य को ही फिक्र करने दें, भविष्य की।
ध्यानी के लिए तो आज काफी है--अभी (छवू) ही बहुत है।
क्षण में ही जीएं।
क्षण के पार सिर्फ पागलपन है।
क्योंकि, वस्तुतः क्षण (ऊवउमदज) ही अनंतता (द्मजमतदपजल) है।
और, एक-दूसरे को प्रेम दें।
मित्रता दें।
जीवन का प्रसाद दें।
पति-पत्नी का यही अर्थ है।
प्रेम बढ़े, तो काम अपने से ही तिरोहित होता है।
एक-दूसरे में प्रभु को देखें, तो फिर शरीर दिखाई नहीं पड़ते हैं।
एक-दूसरे में गहरा देखें, तो फिर मर्त्य नहीं दिखाई पड़ता है।
संभोग के साथी यदि समाधि के साथी न बन पाएं तो जानें कि अवसर व्यर्थ
ही गया है।

रजनीश के प्रणाम
3-1-1971

(प्रतिः डा. एस. बी. शाह, माथेरान, महाराष्ट्र)

115/ मृत्यु का ज्ञान ही अमृत का द्वार है

प्रिय सावित्री,
प्रेम।
मृत्यु का ध्यान कर।
मृत्यु पर ध्यान कर।
मृत्यु से बचने में भय है।
मृत्यु से पलायन में भय है।
मृत्यु के साक्षात्कार में अभय है।
और, ध्यान में ही मृत्यु का साक्षात्कार हो सकता है।
और, जो मृत्यु को जान लेता है, उसके लिए अमृत के द्वार खुल जाते हैं।

रजनीश के प्रणाम
3-1-1971
(प्रतिः डा. सावित्री पटेल, किल्ला पारडी, गुजरात)

116/ भय को पकड़ कर मत रख

प्रिय सावित्री,
प्रेम।
भय थोड़े ही तुझे पकड़े है।

तूने ही भय को पकड़ा हुआ है।
इसलिए, छोड़ेगी तो ही छूटेगा।
और तू असंभव चाहती हैः तू चाहती है कि छोड़े बिना भय छूट जाए! यह न कभी हुआ--न कभी हो सकता है।
छोड़ और देख।
और तू फिर हंसेगी।

रजनीश के प्रणाम
4-1-1971
(प्रतिः डा. सवित्री पटेल, किल्ला पारडी, गुजरात)

117/ साधना-संयोग अति दुर्लभ घटना है--चूकना मत

प्रिय सावित्री,
प्रेम।
साधना-संयोग अति दुर्लभ घटना है।
कभी यात्री होता है, तो नाव नहीं होती।
कभी नाव और यात्री भी होता है, तो नदी नहीं होती।
कभी यात्री, नाव, नदी--सभी होते हैं, पर माझी नहीं होता।
और, कभी यात्री, नाव, नदी और माझी भी होता है और फिर भी यात्रा नहीं होती।
तू आखिरी स्थिति में ही है।
और देर न कर, क्योंकि संयोग के बिखर जाने में देर नहीं लगती है।

रजनीश के प्रणाम
4-1-1971
(प्रतिः डा. सवित्री पटेल, किल्ला पारडी, गुजरात)

118/ अनुभव के फूलों से ज्ञान का इत्र निचोड़

प्यारी प्रेम,
प्रेम।
सीख--हर अनुभव से कुछ सीख।
कड़वे-मीठे--सभी अनुभव जीवन को समृद्ध करते हैं।
और अंततः, अनुभव नहीं बचते, बस, ज्ञान ही बचता है।
इसलिए, जो अंततः बचेगा हाथ में, उसी पर ध्यान रख।
अनुभव के फूल तो खो जाते हैं; इसलिए जो उनसे समय रहते ज्ञान का इत्र नहीं निचोड़ लेता है, वह खाली हाथ ही रह जाता है।

रजनीश के प्रणाम
4-1-1971
(प्रतिः मा योग प्रेम, आजोल, गुजरात)

119/ स्वयं की फिक्र

मेरे प्रिय,
प्रेम।
संसार की चिंता न करो।

क्योंकि, स्वयं की चिंताएं ही क्या कम हैं?
और, दूसरों के संबंध में मत सोचो।
क्योंकि, अभी स्वयं के संबंध में ही सोचना कहां पूरा हुआ है?
धर्म का क्या होगा--यह सवाल असली नहीं है।
स्वयं का क्या हो रहा है, यही सवाल असली है।
और, ऐसी बातें मत पूछो, जिनसे तुम्हारी साधना का सीधा संबंध नहीं है।
क्योंकि, ऐसी बातों का कोई अंत ही नहीं है, जब कि तुम्हारा अंत है।
और, इसके पूर्व कि तुम्हारा अंत हो, उसे जान लेना जरूरी है, जिसका कि कोई अंत नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
4-1-1971
(प्रतिः श्री स्वतंत्र कुमार, जालंधर शहर, पंजाब)

120/ परमात्मा की आग में जल जाना ही निर्वाण है

मेरे प्रिय,
प्रेम।

निश्चय ही सब तैयार था।
बस, चिनगारी की जरूरत थी।
और, अब आग पकड़ गई है।
वह आग अब बुझेगी नहीं।
यह बुझने वाली आग नहीं है।
क्योंकि, यह पदार्थ की नहीं, परमात्मा की आग है।
जलो ऐसे कि फिर कुछ भी न बचे।
राख भी खोजे से न मिले।
क्योंकि, ऐसे जल जाना ही निर्वाण है।

रजनीश के प्रणाम
4-1-1971
(प्रतिः श्री बलवंत राय बी. भट्ट, सुरेन्द्रनगर, गुजरात)

121/ बुद्धि का भिक्षा-पात्र--और जीवन का सागर

मेरे प्रिय,
प्रेम।

जीवन में सब-कुछ समझ में नहीं आता है।
क्योंकि, समझ बहुत छोटी और जीवन विराट है।
और, यदि बुद्धि के भिक्षा-पात्र में सागर न समाए, तो कुसूर सागर का तो नहीं है न?
समझ पर मत रुकना।
समझ आवश्यक है, पर पर्याप्त नहीं है।
बुद्धि के पास जरूर एक छोटा-सा द्वीप है प्रकाशित, लेकिन वह भी अर्ध-प्रकाशित सागर में है, और वह सागर पूर्ण-अप्रकाशित महासागर में है।
ज्ञात अज्ञात के समक्ष कुछ भी नहीं है।
और अज्ञात (न्नदादवूद) भी अज्ञेय (न्नदादवूंइसम) के समक्ष कुछ भी नहीं है।

71

इस सबके जोड़ को ही मैं परमात्मा कहता हूं।

रजनीश के प्रणाम
4-1-1971
(प्रतिः श्री मणिकांत वी. कोठारी, भावनगर, गुजरात)

122/ खोजें--ध्यान, मौन, समाधि

मेरे प्रिय,
प्रेम।
विवाद बुद्धि में है।
बुद्धि की सीमा में विवाद का अंत नहीं है।
जहां तक विचार है, वहां तक विवाद है।
क्योंकि, विचार द्वैत है।
इसलिए, न वेद से विवाद का अंत होगा, न बाइबिल से, न कुरान से।
शब्द से, शास्त्र से, सिद्धांत से--किसी से भी विवाद का अंत नहीं है।
विचारातीत ध्यान में ही अद्वैत का साक्षात्कार होता है।
और, वही संवाद है।
उसके पूर्व नहीं।
इसलिए, ध्यान खोजें।
मौन खोजें।
समाधि खोजें।

रजनीश के प्रणाम
4-1-1971
(प्रतिः श्री अर्जुनलाल नरेला, नीमच कैंट, म. प्र.)

123/ जहां प्यास है वहां मार्ग है

मेरे प्रिय,
प्रेम।
जहां प्यास है, वहां मार्ग है।
संकल्प से तो स्वप्न भी सत्य हो जाते हैं न?
स्वप्न में और सत्य में संकल्प के अतिरिक्त और कोई दूरी कहां है?

रजनीश के प्रणाम
4-1-1971

(प्रतिः श्री रमेश सोलंकी ब्रदर्स, भरतपुर, राज.)

124/ व्यक्ति धार्मिक होते हैं, ग्रंथ नहीं

प्रिय विमल,
प्रेम।
धर्म निश्चय ही सनातन है--अनादि-अनंत है।
लेकिन, धर्म-ग्रंथ नहीं।
धर्म-ग्रंथ सदा ही समय (ैंपउम) में हैं।
अर्थात, सामयिक हैं।
सत्य समयातीत है--शब्द नहीं।

और इसीलिए, धर्म को कहा जाता है, फिर भी कहा नहीं जा पाता है।
विटगिंस्टीन ने संवाद के दो प्रकार कहे हैंः
"कहना" (एंलपदह) और "बताना" (एीवूपदह)।
धर्म-संवाद दूसरे ही प्रकार का है।
धर्म को कहा नहीं जा सकता है, सिर्फ इशारा ही किया जा सकता है। (टज बंद दवज वदसलेवूमक्)
और, बेचारे ग्रंथ तो सिर्फ कह ही सकते हैं।
बताना शब्द की सामर्थ्य में नहीं है।
हां--व्यक्ति बता सकते हैं।
इसलिए वस्तुतः, धार्मिक व्यक्ति तो होते हैं, धर्म-ग्रंथ नहीं।
क्योंकि, व्यक्ति समय में और समय के बाहर--दोनों एक ही साथ हो सकता है।
लेकिन, शब्द की या शास्त्र की वह सामर्थ्य नहीं है।
पर, शब्द या शास्त्र व्यर्थ नहीं हैं।
उनसे ही शब्द की व्यर्थता का बोध होता है--इसलिए!
उनसे ही मुक्त होकर निःशब्द की यात्रा शुरू होती है--इसलिए।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः सुश्री विमल मेहता, नई दिल्ली)

125/ परम असहायावस्था (भमसचसमेदमे) का स्वीकार

मेरे प्रिय,
प्रेम।
स्वयं को प्रभु के हाथों में छोड़े बिना और कोई उपाय नहीं है।
जीवन की चरम-समस्याओं के प्रति मनुष्य असहाय (भमसचसमे) है।
इस असहायावस्था (भमसचसमेदमे) को ठीक से समझें।
और, स्वीकारें।
यही समर्पण है।
और, समर्पण समाधान है।
जब तक लड़ेंगे, तब तक हारेंगे।
इसलिए हार जावें।
अपनी ओर से ही हार जावें।
मौत के द्वारा हराए जाने की प्रतीक्षा न करें।
स्वयं से ही हार जाना जीत का द्वार है।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिःश्री लालचंद जी. के., बंबई)

126/ गहरी नींद के लिए चोट भी गहरी चाहिए

प्यारी सुशीला,
प्रेम।

चोट करनी ही हो तो गहरी ही करनी चाहिए न?
छोटी-मोटी चोटों से तो नहीं चल सकता है।
आदमी की नींद गहरी है।
शायद, नींद कम है और बेहोशी ही ज्यादा है।
और फिर, वह चोटों के भी अन्यथा अर्थ निकालने में भी कुशल है!

ऐसे अर्थ जो कि नींद को तोड़ते नहीं, वरन और गहरा जाते हैं! विष को औषधि की भांति उपयोग किया जा सकता है।
तो औषधि को भी विष की भांति उपयोग किया जा सकता है न?

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः श्रीमती सुशीला सिन्हा, पटना)

127/ सब मार्ग ध्यान के ही विविध रूप हैं

मेरे प्रिय,
प्रेम।
ध्यान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है।
या, जो भी मार्ग हैं, वे सब ध्यान (ऊमकपजंजपवद) के ही रूप हैं।
प्रार्थना भी ध्यान है।
पूजा भी।
उपासना भी।
योग भी ध्यान है।
सांख्य भी।
ज्ञान भी ध्यान है।
भक्ति भी।
कर्म भी ध्यान है।
संन्यास भी।
ध्यान का अर्थ हैः चित्त की मौन, निर्विचार, शुद्धावस्था।
कैसे पाते हो इस अवस्था को, यह महत्वपूर्ण नहीं है।
बस, पा लो, यही महत्वपूर्ण है।
किस चिकित्सा-पद्धति से स्वस्थ होते हो, यह गौण है।
बस, स्वस्थ हो जाओ, यही महत्वपूर्ण है।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः श्री राधाकांत नागर, दिल्ली)

128/ परमात्मा निकटतम है--इसलिए ही विस्मृत है

मेरे प्रिय,
प्रेम।

यात्रा है लंबी।
क्योंकि, मंजिल निकट है।
दूर जो है, वह दिखाई पड़ता है।
और, निकट जो है, वह आंख से ओझल हो जाता है।
दूर जो है, उसका आमंत्रण भी मिलता है।
वह बुलाता हुआ मालूम पड़ता है।
और, वह अहंकार के लिए चुनौती भी बन जाता है।
और, निकट जो है, वह, बस, भूल ही जाता है।
ऐसे ही आत्मा विस्मृत है।
ऐसे ही परमात्मा भूला है।
इसलिए, जो निकटतम है, उसकी यात्रा दूरतम हो गई है।
इसे समझो--और फिर चलना ही नहीं पड़ता है।

इसे पहचानो--और फिर पाओगे कि जहां खड़े हो, वहीं तो मंजिल है।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः श्री सरदारीलाल सहगल, अमृतसर, पंजाब)

129/ मैं तो पुकारता ही रहूंगा--तेरी घाटियों में उतर कर

प्यारी गुणा,
प्रेम।

हां! मैं जरूर ही वापस लौटा हूं।
शिखर से तुम्हें पुकारा।
लेकिन, शायद मेरी आवाज तुम तक नहीं पहुंची।
या, पहुंची भी, तो तुम्हारी समझ में नहीं आई।
फिर तो एक रास्ता था कि मैं तुम्हारी घाटियों में वापस जाऊं।
और, तुम्हारी ही भाषा बोलूं।
लेकिन, क्या तुम इसे भी न समझ पाओगी?
या कि समझोगी भी तो गलत समझोगी?
कृष्ण के साथ भी तुमने यही किया।
बुद्ध के साथ भी यही किया।
और, मैं जानता हूं कि मेरे साथ भी अन्यथा नहीं होगा?
लेकिन, जब तुम नहीं थकती हो, तो हम भी क्यों थकें?
हम भी, पुकारते ही रहेंगे।
और, मेरे शिखर पर तुम न आओ तो न आओ।
लेकिन, मैं तो तुम्हारी घाटियों में आ ही सकता हूं।
इसी आशा में कि प्रकाशोज्ज्वल शिखरों की तुम्हें खबर दूं।
और, घाटियों के अंधेरेपन से पैदा हुआ तुम्हारा अंधापन तोडूं।
और, मैं यह भी भलीभांति जानता हूं कि तुम मुझसे लड़ोगी।
क्योंकि, बीमारियां भी बहुत दिन साथ रहें, तो प्रीतिकर हो जाती हैं।
और फिर, जो प्रकाश तुम्हारा परिचित नहीं है, तुम उस पर भरोसा भी कैसे करो?
और, मैं भी तो अपरिचित हूं, मेरा भी भरोसा तुम्हें क्यों कर हो?

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः श्रीमती गुणा शाह, बंबई)

130/ बस बहें--आनंद से, शांति से, विश्राम से

मेरे प्रिय,
प्रेम।

मैं आपकी गति से अत्यंत प्रसन्न हूं।
काम-ऊर्जा (एमग(द्मदमतहल) ऊर्ध्वगामी होने के लिए मुक्त हो गई है।
वही समस्या थी और उसका समाधान हो गया है।
अब ध्यान का आयाम (क्पउमदेपवद) ही और हो जाएगा।
अभी तक ध्यान भी एक संघर्ष था।
लेकिन, अब ध्यान समर्पण (एनततमदकमत) बनेगा।
अब तैरना नहीं है।

अब बहना है।
बहें--आनंद से, शांति से, विश्राम से।
कहीं पहुंचना नहीं है जैसे--वरन, जैसे जहां भी पहुंचें, वहीं और वही मंजिल है।
अब डूबें भी, तो वही किनारा है।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः लाल सुंदरलाल जैन, दिल्ली)

131/ ना-समझ बन कर भी देख लो

प्रिय अरुण,
प्रेम।

प्रभु पर छोड़ा है, तो पूरा ही छोड़ दो।
सुख-दुख सभी उसे दे दो।
और निर्भार हो जाओ।
और, समझ को भी अपने पास मत बचाओ।
उसे भी उसी के चरणों में चढ़ा दो।
और, ना-समझ हो जाओ!
क्योंकि, अंततः समझ ही सबसे बड़ा भार है!
और अंततः, समझ ही समझ के आने में सबसे बड़ा अवरोध भी है।
समझदार होकर बहुत देखा!
बहुत जन्मों देखा।
और पाया क्या?
अब ना-समझ होकर भी देखो।
समझ के लिए जीवन-रहस्य के जो द्वार बंद हैं, वे ही द्वार नासमझ के लिए सदा सदैव खुले हैं।
तर्क के लिए जहां दीवार है,
प्रेम के लिए वहीं द्वार है।
बुद्धि के लिए जहां पराजय है,
हृदय के लिए वहीं विजय है।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः श्री अरुण जे. पटेल, बंबई)

132/ स्वयं में खोदो--निकट है स्रोत उसका

मेरे प्रिय,
प्रेम।

धर्म (त्तपसपहपवद) की जरूरत है, धर्मों (त्तपसपहपवदे) की नहीं।
क्योंकि, धर्म तो धार्मिक है; लेकिन धर्मों की सत्ता राजनैतिक हो जाती है।
धर्म है, प्रेम की भांति।
वैयक्तिक।
निजी।
संगठन नहीं, साधना।
उसे पाना है, तो स्वयं में साधो।

और, खोना है, तो दूसरों पर ध्यान दो।
उसे पाना है, तो स्वयं में खोदो।
ध्यान से।
प्रार्थना से।
उपासना से।
निकट है स्रोत उसका।
अति-निकट।
लेकिन, जिनका चित्त ही स्वयं के निकट नहीं आता है, वे उसके निकट कैसे आ सकते हैं?

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः जसवंत राय, अमृतसर, पंजाब)

133/ संबंध है--जन्मों-जन्मों का

मेरे प्रिय,
प्रेम।
संबंध तो है ही।
आज का नहीं।
बहुत पुराना!
जन्मों-जन्मों का।
इसीलिए तो, पुकार तुम सुन सके।
इसीलिए तो, भाषा तुम समझ सके।
इसीलिए तो, भरोसा तुम कर सके।
और, सब धीरे-धीरे याद भी आ जाएगा।
आना शुरू भी हो गया है।
स्मृति मरती नहीं, बस, विस्मृत ही होती है।
जन्म-जन्म की स्मृति-परतें अचेतन में विश्राम करती हैं।
वे उठेंगी और तुम्हें घेरेंगी।
उनसे घबड़ाना नहीं।
उनसे चिंतित न होना।
उनका पुनर्जागरण हितकर है, मंगलदायी है।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः स्वामी चैतन्य बोधिसत्व, अहमदाबाद)

134/ पागल सरिता का सागर से मिलन

प्रिय धर्मकीर्ति,
प्रेम।

पागल हुए बिना प्रभु-मिलन कहां?
पागल होना ही उसे पाने की शर्त है।
और, स्वयं को धन्यभागी समझ कि उसने तुझे पुकारा है।
वह पागल करेगा--वह मिटा ही डालेगा।
सरिता को जैसे सागर बुलाता है।
ऐसा ही उसका भी बुलावा है।

सरिता जैसी नाचती-गाती चलती है--अपने प्रिय-मिलन को; ऐसे ही चलना है तुझे भी।
सरिता जैसी अभय हो दौड़ती है--अज्ञात-अपरिचित में; ऐसे ही दौड़ना है तुझे भी।
और अंततः, सरिता जैसे तटों का मोह छोड़ खो जाती है सागर में; ऐसे ही लीन
हो जाना है तुझे भी।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः मा धर्मकीर्ति, आजोल)

135/ वेदनाओं को बह कर पिघलने दे--झर-झर आंसुओं में

प्रिय योग शांति,
प्रेम।

तेरे हृदय में दबाई हुई वेदना है।
दबाए हुए आंसू हैं।
ध्यान में वेदना फूटेगी--आंसू बहेंगे।
और, ऐसे ही, उस भार से मुक्ति होगी, जो कि तेरे प्राणों पर पत्थर जैसा
जम गया है।
इसलिए, रोने में कंजूसी मत करना।
संकोच मत करना।
सोच-विचार मत करना।
रो--हृदय भर कर रो।
समग्र अस्तित्व से रो।
वेदना को पिघलने दे और बहने दे।
आंसुओं में स्नान करके तो तू स्वस्थ होगी।
क्योंकि, उन्हें रोक कर ही तू अस्वस्थ है।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः मा योग शांति, आजोल, गुजरात)

136/ दुर्लभ पंछी--उस पार (ईमलवदक) का

प्यारी गुणा,
प्रेम।
गंगा पास हो तो गंगा नहीं रह जाती है।
दूरी दृष्टि देती है।
और, निकट के प्रति आंखें बंद हो जाती हैं।
इसीलिए तो, परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता है।
इसलिए नहीं, कि वह दूर है।
इसलिए भी नहीं, कि वह अदृश्य है।
वरन इसलिए ही, क्योंकि वह निकटतम से भी निकटतम है।
और, मनुष्य अपने अंधेपन को उसका अदृश्य होना मान कर संतुष्ट रहता है! जल्दी ही मैं भी दूर जाऊंगा। जाना ही पड़ेगा।
क्योंकि, मेरा भी मांगा हुआ समय है।
और, तब तू मुझे ठीक से देख पाएगी।
क्योंकि, दूरी परिप्रेक्ष्य (ढमतेचमबजपअम)देती है।

जल्दी ही मुझे उस पार ले जाने वाली नौका तट से आ लगेगी।
और, जिसने मुझे भेजा है, उसका बुलावा आ पहुंचेगा।
तब तू मुझे ठीक से पहचान पाएगी।
और, विदा के क्षणों में फिर शंकाएं भी मन को नहीं घेरती हैं।
और, जो अदृश्य में खो जाता है, उसके प्रति श्रद्धा आ जाती है।
शंकाएं मन के बचाव हैं।
अश्रद्धाएं सुरक्षाएं हैं।
शायद, जो तू मुझसे निकट होकर नहीं ले पाएगी, वह दूर होकर ले सकेगी।
लेकिन, मैं चाहता हूं कि निकट हूं--तभी ले ले।
अन्यथा, तेरे मन को बहुत पछतावे होंगे और बहुत आसुंओं में व्यर्थ ही तुझे डूबना होगा।

रजनीश के प्रणाम
8-1-1971

(प्रतिः श्रीमती गुणा शाह, बम्बई)

137/ कुछ करो, कुछ चलो--स्वयं की खोज में

प्रिय माधुरी बहन,
प्रेम।

नहीं--मैं जल्दी नहीं जाऊंगा।
जिस काम से आया हूं अर्थात भेजा गया हूं, उसे तो पूरा करके ही जाऊंगा।
लेकिन, मैं जल्दी नहीं जाऊंगा, इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम्हें जल्दी करने की कोई जरूरत नहीं है।
तुमने देरी की तो मेरी देरी-से-देरी भी जल्दी ही सिद्ध होगी।
और, तुमने जल्दी की तो मेरी जल्दी भी देरी ही है।
सोचो!
नहीं, सोचने से क्या होगा?
कुछ करो--स्वयं की खोज में।
कुछ चलो--स्वयं की दिशा में।

रजनीश के प्रणाम
8-1-1971

(प्रतिः सुश्री माधुरी बहन, द्वारका, गुजरात)

138/ सत्योपलब्ध के मार्ग अनंत हैं

मेरे प्रिय,
प्रेम।

सत्योपलब्धि के मार्ग अनंत हैं।
और, व्यक्ति व्यक्ति पर निर्भर करता है कि उसके लिए क्या उपयुक्त है।
और, इसलिए, जो एक के लिए सही है, वही दूसरे के लिए बिल्कुल ही गलत हो सकता है।
इसीलिए, दूसरे के साथ धैर्य की आवश्यकता है।
और, स्वयं को सबके लिए मापदंड मानना खतरनाक है।
मैं अनेकांत या स्यादवाद में इसी सत्य की अभिव्यक्ति देखता हूं!

विचार-प्रधान व्यक्ति के लिए जो मार्ग है, वह भाव-प्रधान व्यक्ति के लिए नहीं है।
और बहिर्मुखी (द्मगजतवअमतज) के लिए जो द्वार है, वह अतंर्मुखी (टदजतवअमतज) के लिए दीवार है।
ज्ञान का यात्री अंततः ध्यान को नाव बनाता है।
प्रेम का यात्री प्रार्थना को।
ध्यान और प्रार्थना पहुंचते हैं एक ही मंजिल पर।
लेकिन, उनके यात्रा-पथ नितांत भिन्न हैं।
और, उचित यही है कि अपना यात्रा-पथ चुनें और दूसरे की चिंता न करें।
क्योंकि, स्वयं को ही समझना जब इतना कठिन है, तो दूसरे को समझना तो करीब-करीब असंभव ही है।

रजनीश के प्रणाम
8-1-1971
(प्रतिः डा. श्री वी. जी. शाह, बंबई)

139/ अकेलेपन को जी, आलिंगन कर

प्रिय योग शांति,
प्रेम।
अकेलापन जीवन का तथ्य है।
उससे जागा जा सकता है, लेकिन बचा नहीं।
वह छाया की भांति सदा ही साथ है।
और, छाया तो कम से कम अंधेरे में साथ छोड़ देती है; वह तो अंधेरे में और
भी प्र्रगाढ़ होकर प्रकट होता है। शायद अंधेरे में आदमी अंधेरे से कम और अपने अकेलेपन से ही ज्यादा डरता है।
इसलिए, तू अकेलेपन से न भाग, न बच।
वरन उसे जी।
वह है। उसे आलिंगन कर।
जो है, उसे इनकार करने में सिवाय दुख के और कुछ भी हाथ नहीं लगता है।
और, जो है, उसकी स्वीकृति ही आनंद है।
और, वही आस्तिकता भी है।

रजनीश के प्रणाम
8-1-1971
(प्रतिः मा योग शांति, आजोल, गुजरात)

140/ ध्यान के प्रकाश में वासना का सर्प पाया ही नहीं जाता

प्यारी योग प्रिया,
प्रेम।
सांझ घिरी। सूर्य डूबा।
गुरु ने शिष्य से कहाः शास्त्र को अंदर जाकर आले में रख आओ।"
शिष्य गया भी।
पर, तत्काल ही भयभीत वापस लौटा और बोलाः गुरुदेव! आले में सर्प बैठा है!
गुरु ने कहाः यह रहा सर्प भगाने का मंत्र--जा और पढ़; सर्प चला जाएगा।" शिष्य गया।
उसने मंत्र भी पढ़ा।

पर और भी भयभीत वापस लौटा और बोलाः गुरुदेव! सर्प मंत्र से शक्तिशाली है। मंत्र पढ़ा, लेकिन वह अपनी जगह ही बैठा है?"
गुरु ने कहाः तूने श्रद्धा से नहीं पढ़ा होगा?
शिष्य फिर गया।
फिर उसने मंत्र पढ़ा।
लेकिन, और भी भयभीत भागा हुआ वापस लौटा और बोला, गुरुदेव! श्रद्धा से
भी मंत्र पढ़ा, लेकिन सर्प टस से मस नहीं हो रहा है!
गुरु ने कहाः फिर मंत्र को छोड़ और दीया ले जा।"
शिष्य हंसता हुआ वापस लौटा--उसके हाथ में एक रस्सी थी।

काम-वासना से लड़ना नहीं।
किसी भी वासना से मत लड़ना।
लड़ने का मंत्र काम नहीं आएगा।
दीया--ध्यान का दीया ही भीतर ले जाना--उसके अतिरिक्त और कुछ भी काम नहीं पड़ता है।
वासना अर्थात अंधेरे में देखी गई जीवन-ऊर्जा।
वासना अर्थात अंधेरे में, अज्ञान में देखी गई आत्मा।
ध्यान के प्रकाश में वासना का सर्प पाया ही नहीं जाता है।
ध्यान के प्रकाश में वही मिलता है, जो है।
और, अज्ञान के अंधकार में--या ध्यानाभाव के अंधेपन में वह दिखाई पड़ता है, जो कि वस्तुतः नहीं है।
ध्यान का दीया जला और भीतर जा।
और, मैं प्रतीक्षा करूंगा, उस क्षण की, जब तू हंसती हुई बाहर आएगी और कहेगीः सर्प तो है ही नहीं।

रजनीश के प्रणाम
9-1-1971
(प्रतिः मा योग प्रिया, आजोल, गुजरात)

141/ संन्यास की कीमिया

प्रिय योग प्रेम,
प्रेम।
नासमझी से वरदान भी अभिशाप हो जाते हैं।
और, समझ से--अभिशाप भी वरदान।
इसलिए, असली सवाल अभिशाप या वरदान का नहीं है; असली सवाल है उस कीमिया (ःसबीमउल) को जानने का, जो कि कांटों को फूल में रूपांतरित कर देती है।
कोयला ही रासायनिक प्रक्रिया से गुजर कर हीरा हो जाता है।
संन्यास कोयले जैसी चेतना को, हीरे जैसी बनाने की ही प्रक्रिया है।
संन्यास के रसायन-शास्त्र का मूल-सूत्र तुझे कहता हूं।
सीधा नहीं कहूंगा।
कहूंगा जरूर--लेकिन फिर भी तुझे उसे खोजना भी होगा।
क्योंकि, परोक्ष-इशारा भी उस सूत्र की अभिव्यक्ति का अनिवार्य अंग है।
कुछ महामंत्र हैं, जो कि सीधे कहे ही नहीं जा सकते हैं।
या कहे जावें, तो समझे नहीं जा सकते हैं।
या समझे भी जावें, तो उनमें निहित काव्य खो जाता है।
और, वह काव्य ही उनकी आत्मा है।

एकनाथ रोज भोर में गोदावरी में स्नान करने जाते थे।
वे स्नान करके लौटते, तो एक व्यक्ति उन पर थूक देता। वे हंसते और पुनः स्नान कर आते।

धर्म के ठेकेदारों ने उस व्यक्ति को किराए पर रखा था।
लेकिन, एक शर्त थी कि एकनाथ क्रोधित हों, तो ही उसे पुरस्कार मिल सकता था।
एक दिन--दो दिन--सप्ताह--दो सप्ताह--और उस व्यक्ति की मेहनत व्यर्थ ही
जा रही थी।
अंततः, उसने आखिरी कोशिश की।
और, एक दिन एकनाथ पर 107 बार थूका।
एकनाथ बार-बार हंसते और पुनः स्नान कर आते।
फिर, उसने 108 वीं बार भी थूका।
एकनाथ हंसे और पुनः स्नान कर आए।
और फिर, उसके पास आकर खड़े हो गए--इस आशा और प्रतीक्षा में कि शायद वह और
भी थूके।
लेकिन, वह गरीब बुरी तरह थक गया था।
थूकते-थूकते उसका मुंह भी सूख गया था।
एकनाथ ने थोड़ी देर प्रार्थनापूर्ण मन से प्रतीक्षा की और फिर बोलेः किन शब्दों में तुम्हारा धन्यवाद करूं? मैं पहले गोदावरी की गोद का आनंद एक ही बार लेता था; फिर तुम्हारी सत्प्रेरणा से दो बार लेने लगा। और, आज का तो कहना ही क्या है--108 बार गोदावरी-स्नान का पुण्य मिला है! श्रम तुम्हारा है, और फल मैं ले रहा हूं!"

रजनीश के प्रणाम
9-1-1971

(प्रतिः मा योग प्रेम, आजोल, गुजरात)

142/ आत्म-श्रद्धायुक्त शक्त से सृजन संभव

प्रिय कृष्ण चैतन्य,
प्रेम।

शक्ति में श्रद्धा--स्वयं शक्ति से भी ज्यादा शक्तिशाली है।
शक्ति अकेली निष्प्राण है।
उसमें प्राण तो पड़ते हैं--स्वयं में श्रद्धा से।
शक्ति मात्र देह है--उसमें आत्मा तो आती है--आत्मश्रद्धा से।
और, इतना ही नहीं कि श्रद्धाहीन शक्ति निर्जीव है; वरन यह भी कि श्रद्धाविहीन शक्ति आत्मघाती (एनपबपकंस) भी है।
क्योंकि, जो शक्ति सृजनात्मक (ींतमंजपअम) नहीं है, वह ध्वंस में लग जाती है।
और, सबसे पहले आत्म-ध्वंस में।
क्योंकि, अनुपयोगी शक्ति स्वयं से ही बदला लेती है।
और, आत्म-अश्रद्धा शक्ति को उपयोग की सृजन-दिशाओं में प्रवाहित नहीं होने देती।
तुम्हें देखता हूं, तो महाभारत की एक घटना सदा ही याद आती है।
कर्ण और अर्जुन की लड़ाई बड़ी बेमेल थी।
क्योंकि, यह सूर्य और इंद्र की लड़ाई थी।
कहां सूर्य और कहां बेचारा इंद्र!
पर जो होना था, वह नहीं हुआ और जो नहीं होने जैसा लगता था, वह हुआ!
कर्ण को मुंह की खानी पड़ी! और ऐसा हुआ शल्य को सारथी बना कर!
शल्य का अर्थ हैः शंका; शल्य का अर्थ हैः संशय।
और, कर्ण का अर्थ हैः कान।
सारे शक कान के द्वारा ही तो अंदर पहुंचते हैं, वही तो द्वार है शंकाओं का!

शल्य बार-बार कर्ण से यही कहता रहाः "अरे! तू अर्जुन को क्या जीतेगा!" और, कर्ण हारा, क्योंकि शल्य जीता। शल्य से बचना।
उसे सारथी बनाने की कोई भी तो जरूरत नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
9-1-1971

(प्रतिः स्वामी कृष्ण चैतन्य, आजोल, गुजरात)

143/ सदा ही एक बार और प्रयास करो

प्रिय कृष्ण चैतन्य,
प्रेम।

बहुत समय पूर्व अरब में एक अदभुत व्यापारी था।
वह असफलता से अपरिचित था।
वह जो भी छूता वही स्वर्ण हो जाता था।
लोग उसे किसी न किसी प्रकार का जादूगर ही समझते थे।
और, वह था भी।
क्योंकि, जब भी वह थोड़े दिनों के लिए अपने विलास-भवन को छोड़ कर कहीं यात्रा पर जाता, तभी उसके ऊंटों को नये खजानों के बोझ से दबना पड़ता।
कभी वे हीरे-मोतियों के भार से दबे लौटते।
कभी स्वर्ण-अशर्फियों से।
और, कभी सुंदरतम युवतियों से।
और, फिर एक दिन अफवाह उड़ी कि उस अदभुत व्यापारी ने अपनी सफलता का रहस्य एक किताब में प्रकट कर दिया है।
स्वभावतः, उसके द्वार पर हजारों व्यक्तियों की भीड़ इकट्ठी हो गई।
उस व्यापारी ने न केवल यही स्वीकार किया कि उसने अपनी सफलता का राज एक किताब में लिख दिया है, वरन यह भी कहा कि उस जादुई-पुस्तक को उसने स्वयं विगत पचास वर्षों में नियमित पढ़ा भी है।
और, अंत में उसने यह भी कहा कि यदि तुम मेरी सलाह मानोगे, तो तुम्हारा जीवन भी इतना ही चमत्कारपूर्ण हो जाएगा, जैसा कि मेरा है।
लेकिन, उसने जब उत्सुकता से पागल भीड़ को दिखाने के लिए पुस्तक खोली तो
उस बड़ी पुस्तक में केवल सात शब्द ही पुनः-पुनः लिखे हुए थे।
वे सात शब्द मैं तुमसे भी कहना चाहता हूं।
हैंः रूंजमअमत ींचचमदे ंसूंले ंबज रनेज वदबम उवतम --कुछ भी घटित हो, सदा ही एक बार और प्रयास करो।"

रजनीश के प्रणाम
9-1-1971
(प्रतिः स्वामी कृष्ण चैतन्य, आजोल)

144/ समय और दूरी के पार--आयाम-शून्य-आयाम में प्रवेश

प्यारी मधु,
प्रेम।

अब तू हो कहीं भी--होगी तो यहीं।
स्थान अब भेद न करेगा।
समय अब दीवार न बनेगा।

शरीर की दूरी अब न दूरी होगी--न शरीर की निकटता निकटता।
एक और ही आयाम में--आयामशून्य आयाम में (क्पउमदेपवदसमे क्पउमदेपवद) में अब तेरा प्रवेश हो रहा है।
वहां अनेकता नहीं है।
वहां द्वैत नहीं है।
और, वहां ही मैं है।
वह नहीं, जो "मैं" बाहर से दिखाई पड़ता है।
वह भी नहीं, जो कि "तू" की सीमा-रेखा है।
वरन वह, जो कि तू भी है।
"तत्वमसि श्वेतकेतु।"

रजनीश के प्रणाम
9-1-1971
(प्रतिः मा आनंद मधु, विश्वनीड़, आजोल)

145/ भय के कुहासों में साहस का सूर्योदय

प्यारी गुणा,
प्रेम।

साहस कर।
और, साहस पहले से नहीं होता है।
वरन, करने से ही पैदा होता है।
और, भय भी पहले से ही नहीं है।
वह साहस न करने से पैदा हुई ग्रंथि है।
साहस न करके तो तूने देख ही लिया है--प्राणों पर कुहासे की भांति छाया हुआ भय उसका पर्याप्त प्रमाण है।
अब साहस करके भी देख।
इधर साहस का सूर्य निकला कि उधर भय का कुहासा हटा।
और, ध्यान रख कि अभय ही आत्मा है।

रजनीश के प्रणाम
9-1-1971

(प्रतिः सुश्री गुणा शाह, बंबई)

146/ अदृश्य के दृश्य और अज्ञात के ज्ञात होने का उपाय--ध्यान

मेरे प्रिय,
प्रेम।
अदृश्य को दृश्य करने का उपाय पूछते हैं?
दृश्य पर ध्यान दें।
मात्र देखें नहीं, ध्यान दें।
अर्थात, जब फूल को देखें, तो स्वयं का सारा अस्तित्व आंख बन जाए।
पक्षियों को सुनें, तो सारा तन-प्राण कान बन जाए।
फूल देखें, तो सोचें नहीं।
पक्षियों को सुनें, तो विचारें नहीं।
समग्र चेतना () देखे या सुने या सूंघे या स्वाद ले या स्पर्श करे।
क्योंकि, संवेदनशीलता (एमदेपजपअपजल) के उथलेपन के कारण ही अदृश्य दृश्य नहीं हो पाता है, और अज्ञात अज्ञात ही रह जाता है।

संवेदना को गहरावें।
संवेदना में तैरें नहीं, डूबें।
इसे ही मैं ध्यान (ऊमकपजंजपवद) कहता हूं।
और, ध्यान में दृश्य भी खो जाता है और अंततः द्रष्टा भी।
बचता है--केवल दर्शन।
उस दर्शन में ही अदृश्य दृश्य होता है और अज्ञात ज्ञात होता है।
यही नहीं--अज्ञेय (न्नदादवूंइसम) भी ज्ञेय हो जाता है।
और, ध्यान रखें कि जो भी मैं लिख रहा हूं--उसे भी सोचें न, वरन करें।
"कागज लेखी" से न कभी कुछ हुआ है, न हो ही सकता है।
"आंखन देखी" के अतिरिक्त और कोई द्वार नहीं है।

रजनीश के प्रणाम
12-1-1971
(प्रतिः श्री लाल प्रताप, भुडाह, अवध)

147/ आत्मज्ञान के दीये, समाधि के फूल--मौन में, शून्य में

प्रिय योग प्रेम,
प्रेम।
एक अदभुत गुरु था--सोईची (एीवपबीप)। उसने जिस दिन से तोफुकु (ैंवनिन) मंदिर में शिक्षण देना शुरू किया, उसी दिन से मंदिर का रूपांतरण हो गया।
दिन आता--दिन जाता। रात आती--रात जाती।
लेकिन, तोफुकु मंदिर सदा मौन ही खड़ा रहता।
वह मंदिर एक गहन सन्नाटा हो गया।
उस मंदिर से जरा सी भी आवाज न उठती।
शास्त्रों से सूत्रों का पाठ भी बंद हो गया, प्रार्थना-पूजा बंद हो गई।
यहां तक कि मंदिर के घंटे भी सदा सोए रहते--उन्हें भी कोई न छेड़ता।
क्योंकि, सोईची के शिष्यों को सिवाय ध्यान के और कुछ भी न करना था।
बरसों तक ऐसा ही रहा। लोग भी भूल गए कि पड़ोस में कोई मंदिर है।
सैकड़ों संन्यासी थे वहां; और बड़ी गतिविधि थी।
लेकिन, मौन और शून्य।
बड़ी-बड़ी घटनाएं वहां घटती थीं।
आत्मज्ञान के दीये जलते थे; समाधि के फूल खिलते थे।
लेकिन, मौन और शून्य।
और, फिर एक दिन लोगों ने सुना कि मंदिर के घंटे बज रहे हैं और शास्त्रों से सूत्र पढ़े जा रहे हैं--यह कैसी अनहोनी?
लोग भागे मंदिर की ओर। सारा नगर द्वार पर इकट्ठा हो गया।
सोईची ने संसार छोड़ दिया था।
उसके शव के पास ही शास्त्रों से सूत्र पढ़े जा रहे थे!
और, उसके शव के ऊपर ही घंटे बजाए जा रहे थे!
लोग चकित थे; लेकिन मैं सोचता हूं कि यह ठीक ही है, क्योंकि जब तक कोई मंदिर जीवित होता है, तो मौन होता है।

रजनीश के प्रणाम
13-1-1971
(प्रतिः मा योग प्रेम, आजोल)

148/ सहज मुक्त

प्रिय प्रेम कृष्ण,
प्रेम।

ध्यान अक्रिया भी है और क्रिया भी।
अक्रिया ऐसी कि जो क्रिया की विरोधी न हो।
और, क्रिया ऐसी कि जिसके केंद्र पर अक्रिया हो।
और, भीतर कर्ता का भाव न हो, तो यह चमत्कारपूर्ण स्थिति स्वतः ही फलित होती है।
और, साक्षी की उपस्थिति कर्ता की अनुपस्थिति है।

एक फकीर था होटेई (भवजमप)।
पर अपने ही ढंग का--वैसे भी फकीर कभी किसी और के ढंग के होते ही कब हैं? उसका न कोई आश्रम था, न मंदिर, न विहार।
और न ही उसके कोई शिष्य थे।
सड़कें ही उसका निवास थीं।
सड़कें ही आश्रम--मंदिर--विहार।
कंधे पर एक झोला लटकाए वह दिन भर स.ड़कों पर घूमता रहता। उसके झोले में
फल होते, मिठाइयां होतीं और खिलौने होते। बच्चों को वह उन्हें बांटता रहता और बच्चों के साथ नाचता, गाता, हंसता--और उन्हें कहानियां सुनाता और ऐसे वह उनमें अपरोक्ष ध्यान के बीज बोता। सड़कों पर ही बच्चे उसके साथ ध्यान में खो जाते। सड़कों के वे कोने पवित्र हो जाते और राहगीर वहां से मौन और शांत होकर निकलते।
होटेई जीवित ध्यान था, और वह जहां खड़ा होता, वहीं मंदिर था।
ध्यान के प्रेमी राहगीरों से वह कहताः एक पैसा ध्यान के लिए भी।" और उसका झोला पैसों से भर जाता। कभी-कभी कोई उससे कहता कि वह मंदिर में चले और लोगों को धर्म शिक्षा दे, तो वह हंसता और कहताः "एक पैसा और, मंदिर के लिए।" वह जिस गांव से गुजरता--वहीं उसकी खबर घर-घर पहुंच जाती।
बच्चे उसके संदेशवाहक बन जाते, क्योंकि उनके चेहरों पर अलौकिक का आलोक छा जाता और उनकी आंखों में अपूर्व आनंद के फूल खिल जाते। होटेई का कहीं से गुजरना, हंसते हुए ध्यान का ही गुजरना था। धीरे-धीरे लोग उसका नाम ही भूल गए और उसे "हंसता हुआ बुद्ध" (ैंम डंनहीपदह ईनककीं) करके ही जानने लगे थे।
एक दिन किसी गांव में एक धर्म-पंडित ने राह में उसे रोका और उससे पूछाः ध्यान क्या है?
निश्चय ही उसने सोचा होगा कि होटेई शास्त्रों का उल्लेख करेगा और ध्यान की परिभाषा बताएगा; लेकिन होटेई उसके प्रश्न पर खिलखिला कर हंसा और फिर उसने अपना झोला जमीन पर गिरा दिया; आंखें बंद कर लीं और ध्यान में खो गया। उसकी आंखों से आनंदाश्रु बहने लगे और उसका शरीर ही वहां रहा--वह स्वयं तो कहीं और ही चला गया!
आह! ठीक जो उत्तर हो सकता था, वही उसने दिया! लेकिन, पंडित नहीं समझा-- पंडितों से ज्यादा ना-समझ व्यक्ति ऐसे भी खोजना कठिन है!
पंडित ने होटेई को हिला कर उसका ध्यान तोड़ दिया और पुनः पूछाः ध्यान
का व्यावहारिक रूप क्या है?
जैसे कि होटेई ने जो उत्तर दिया था, वह अव्यावहारिक था!
होटेई पुनः हंसा और उसने अपना झोला पुनः कंधे पर रख लिया--पंडित को झुक कर अभिवादन किया और अपनी यात्रा पर चल पड़ा!
उसके पैरों की ध्वनि में वही शांति थी, जो कि उसके मौन में थी। यह उसका दूसरे प्रश्न का उत्तर था!

रजनीश के प्रणाम
14-1-1971
(प्रतिः स्वामी प्रेम कृष्ण, आजोल)

149/ अंतर्संगीत

मेरे प्रिय,
प्रेम।
शुभ हैं लक्षण।
अमूल्य है अवसर।
प्रभु समर्पण करें और आगे बढ़ें।
आलोक निरंतर बढ़ेगा और अंततः आलोक ही आलोक शेष रह जाता है।
अंधकार बचता ही नहीं है।
अंधकार हमारे अज्ञान के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं है।
और, जहां अज्ञान नहीं--अंधकार नहीं, वहां अहंकार भी नहीं।
फिर तो, बूंद नहीं, सागर ही है।
फूलों के बिना ही सुगंध बरस रही है न?
वाद्य बिना संगीत भी बरसेगा।
अनाहत नाद निकट है।
बढ़ें।
प्रार्थनापूर्ण हृदय से आगे बढ़ें।
शुभ हैं लक्षण।
और, अमूल्य है अवसर।

रजनीश के प्रणाम
7-1-1971
(प्रतिः श्री हरिकृष्ण भट्ट, नवसारी, गुजरात

150/ प्राणों की अंतर्वीणा

प्यारी धर्मकीर्ति,
प्रेम।
अपूर्व है आनंद--ध्यान का।
अलौकिक है अनुभूति--आनंद की।
जैसे सदा से बंद द्वार खुलते हैं।
या जैसे अपरिचित अंधकार में, सदा से परिचित सूर्य का आगमन होता है।
हृदय की कली अचानक फूल बन जाती है।
और, प्राणों की अंतर्वीणा पर अनाहत नाद बजता है।
नृत्य करती है--श्वास-श्वास।
और, गीत गाता है--तन मन का अणु-अणु।
अनुगृहीत हो।
आह्लाद से भर।
प्रभु को धन्यवाद दे।
और, कहने दे तेरे समस्त अस्तित्व कोः प्रभु की अनुकंपा अपार है।"

रजनीश के प्रणाम
4-1-1971
(प्रतिः मा धर्मकीर्ति, विश्वनीड़, आजोल)